प्रह्लाद

(गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में 'युगों से चली आ रही शिक्षा : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन)

सम्पादक
डा० विष्णुदत्त राकेश
एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

संयुक्त-सम्पादक
डा० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम०ए०, पी-एच०डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

अप्रैल १९८९

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

—संरक्षक—
प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रकाशक	व्यवस्थापक
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा	जगदीश विद्यालंकार
कुलसचिव	पुस्तकालयाध्यक्ष

* विषय सूची *

वैदिक-वन्दना

ॐ हिरण्य गर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

यजु० १३.४

स्वर्णगर्भ जो स्वप्रकाश से करता सूर्य-चन्द्र धारण,
विद्यमान जो रहा सृष्टि से पूर्व मृजन का बन कारण
अज से लेकर पिपीलिका तक जीवमात्र का जो स्वामी,
पुण्य-प्राप्य लोकों मे लेकर धरणी तक जिसने थामी।
मुखस्वरूप जो देव-शक्तियों को करता सामर्थ्य निधान,
उस जगदीश्वर को करते हम सादर श्रद्धा हविष प्रदान॥

—डा० विष्णुदत्त राकेश

सम्पादकीय

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एव पुरातत्त्व विभाग के तत्वावधान में १९८६ के प्रारंभ मे एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। विषय था, 'युगो से चली आ रही शिक्षा . ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में'। ३१ जनवरी और १ फरवरी को सम्पन्न इस दो-दिवसीय सगोष्ठी के लिए वित्तीय सहायता भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली से प्राप्त हुई थी। परिषद् के वरिष्ठ अनुसधान अधिकारी डा० राजकुमार इसके लिए विशेषरूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्घाटन-सत्र की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पण्डित हरिदत्त वेदालकार ने की थी। समापन-समारोह मे इतिहास के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध विद्वान् डा० सत्यकेतु विद्यालकार ने आशीर्वचन प्रदान किया था। गुरुकुल के इतिहास-विभागाध्यक्ष तथा तत्कालीन कुलपति महोदय की देखरेख मे सुचारुरूप से सम्पन्न इस संगोष्ठी मे देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो से पधारे हुए विद्वानो ने अपने विद्वत्तापूर्ण शोध-लेखो का वाचन किया। उस समय यह भी निश्चय किया था कि इन निबन्धो का प्रकाशन होना चाहिए। भावी शोधार्थियो और विद्याप्रेमियो के लिए इनकी उपयोगिता असदिग्ध है। कुछ अपरिहार्य कारणो से तत्काल प्रकाशन का कार्य सभव नही हो सका। प्रसन्नता की बात है कि प्रह्लाद का यह अक उस सारी सामग्री को अपने मे समेटे विशेषाङ्क के रूप मे प्रकाशित हो रहा है। इससे भारतीय शिक्षा के परम्परित विकास और परिवर्तन की दिशाओ का परिचय तो मिलेगा ही, बेहतर विकल्प की सभावनाएँ भी उजागर होगी। अतीत का अनुसधान वर्तमान को उज्ज्वल परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

अन्त मे, सगोष्ठी में पढ़े गए लेखो को प्रकाशनार्थ प्रदान करने के लिए इतिहास विभाग के हम आभारी है। आशा है, प्रह्लाद के पाठक इस अक को भी पूर्व की तरह प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार करेंगे।

प्राचीन भारत में गुरुकुल की परम्परा

—डा० विष्णुदत्त राकेश
हिन्दी विभागाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भारतीय आचार्यों ने शरीर, मन और आत्मा के विकास का साधन शिक्षा को माना है। अत शिक्षा भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित न रह कर आत्मचिन्तन तक का लक्ष्य निर्धारित करती है। शिक्षा का सम्बन्ध बालक के जन्म के पूर्व से लेकर, उसके परिपक्व नागरिक बनने तक निरन्तर रहता है। शिक्षित वह है जो माता-पिता तथा आचार्य से गहराई के साथ जुड़ा है। माता-पिता के सस्कारो से सतान के प्रारम्भिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है और फिर उसका परिवेश और वातावरण उसके सस्कारो को जन्म देता है। संस्कारो का क्रमबद्ध निर्माण ही बालक की शिक्षा है। यही कारण है कि गर्भाधान-सस्कार से लेकर उपनयन सस्कार तक बालक को उद्देश्यनिष्ठ दृष्टि से तैयार किया जाता है। भारतीय शिक्षा केवल परिवेश को ही उपयोगी व्यक्तित्व के निर्माण का घटक नही मानती, वह उसके अर्जित सस्कार तथा माता-पिता की शिक्षा को भी उसके निर्माण में प्रमुख कारक स्वीकार करती है। माता-पिता जब सतान को महान बनाने का सकल्प करते हैं, तब इस महान लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्हे भी महान बनना पड़ता है। गर्भावस्था मे सतान के उचित भरण-पोषण के लिए उन्हें भी सयमित जीवन जीना पडता है तथा प्रसव के पश्चात् शिशु के शारीरिक विकास के लिए जागरूक रहना पड़ता है। माता-पिता यदि शिक्षित, सदाचारी, धार्मिक तथा स्वस्थ नही है तो वे अपने शिशु का समुचित विकास नही कर सकते। तात्पर्य यह कि माता-पिता अपने सकल्प और आचरण से मनचाही सतान का निर्माण कर सकते हैं।

शिक्षा का दूसरा घटक है परिवेश। शिक्षा के लिए उचित परिवेश का होना आवश्यक है। खुले-प्रशस्त वनो, मैदानो, नदियो के तटो और सुरम्य पर्वतो की उपत्यकाओ मे, जन-कोलाहल से दूर शिक्षण-सस्थाओ की स्थापना होनी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् धर्म के जिन तीन सम्बन्धो की चर्चा— (१) यज्ञ-अध्ययनदान, (२) कष्टसहिष्णुता-तप तथा (३) श्रम-सयमपूर्वक कुलवास के रूप मे करती है, वह ऐसे ही शान्त-एकान्त स्थानो पर सभव है। भोग-विलास के वातावरण से दूर रहकर ही बालक आत्मनिर्भर और आत्म-संयमी हो सकता है। आज जिस 'प्रसार-शिक्षा' या क्षेत्र-कार्य की प्रणाली को शिक्षा का अनिवार्य अङ्ग बनाने पर बल दिया जा रहा है वह प्राचीन 'आश्रम प्रणाली' का अनिवार्य भाग थी, क्योकि आचार्यों के आश्रम या गुरुकुल नगरो से दूर वनो मे होते थे, अत प्रत्येक बालक को वहाँ श्रम की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। राजा-रक के बालक

बिना किसी भेदभाव के वहाँ परिश्रम कर जीवन जीना सीखते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में हारिद्रुमत मुनि ने जाबाल सत्यकाम को शिक्षा देने से पूर्व क्षेत्र-सेवा का कार्य ही सौंपा था, क्योंकि वह युग पशु-पालन और कृषिजीविका का था, अतः गो संवर्धन और कन्यरक्षण का कार्य उसकी शिक्षा का अनिवार्य अङ्ग बनाया गया। उसका उपनयन संस्कार करके मुनि ने अत्यन्त दुर्बल चार सौ गाएँ छाँटकर उससे कहा—'सौम्य! इनकी सेवा करो और जब तक ये बढ़कर एक हजार न हो जाएँ, तब तक अपनी पुस्तकीय शिक्षा को अधूरी समझो।' सत्यकाम ने कहा—"जब तक ये गाएँ बढ़कर एक हजार न हो जाएँगी, तब तक मैं नहीं लौटूँगा।" वह वर्षों जंगल में रहा और जब वे गायें एक हजार हो गयी तब लौटा—

'स ह वर्षगण प्रोवास ता यदा सहस्र सम्पेदुः।'

इस प्रकार पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य-सम्पादन का प्रमाणपत्र भी तत्कालीन शिक्षा के लिए अनिवार्य था। आश्रमप्रणाली तप, त्याग और श्रम पर आधारित प्रणाली थी। इसे गुरुकुल इसलिये कहा गया कि इसमे गुरु का महत्व था। अपने परिवार का मुखिया तो स्वार्थी भी हो सकता है, पर इस कुल का मुखिया तो उदार लोकचेता होता था। वह अपने सम्पर्क मे आये छात्र को उसी ममता से रखता था जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशु को रखती है। शिक्षालय को कुल इसलिए कहा गया कि वहाँ बालक को निजी परिवार की क्षुद्र भावना से निकालकर एक बड़े परिवार की सामाजिक चेतना से जोड़ना था। वह किसी देश, परिवार, जाति का सदस्य नही, वह तो मानव-कुल का सदस्य है। समाज के प्रति इसी 'कुल भावना' के कारण उसका दायित्व बोध है। इस प्रकार गुरुकुल राष्ट्रीय रचनाधारा में विद्यार्थी के समर्पण की एक प्रक्रिया को जन्म देने वाला विचार है जहाँ उसे परिवार और व्यक्तिगत संकीर्णताओ से ऊपर उठकर राष्ट्रोपयोगी या मानवोपयोगी बनाया जाता है। आचार्य बिना किसी भेदभाव के जब सभी बालको को निकट बैठाकर 'सह नाववतु' और 'सह नौ भुनक्तु' का उपदेश करता था तब विघटन की भावना स्वतः नष्ट हो जाती थी। साथ-साथ चलना, साथ खाना-पीना, साथ काम करना 'कुल भावना' को जन्म देना था। इसी सगठन-भावना से समाज और राष्ट्र की समृद्धि का द्वार खुलता है। अथर्ववेद मे आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरेबिभर्ति त जात द्रष्टुमभि सयन्ति देवाः॥

बालक जब शिक्षा के लिए गुरुकुल मे आता है तब आचार्य उसका उपनयन करने के लिए अपने समीप बैठने और अपने ध्येय के अनुरूप बनाने के लिए तीन रात उसे उदर में रखता है। यहाँ रात्रि का अर्थ है अज्ञान। बालक जिस परिवेश से गुरुकुल में आया है, उसमे उसका जन्मगत, परिवारगत तथा परिवेशगत अज्ञान निहित है। आचार्य इन बाधाओ को दूर कर अपने पेट मे अर्थात् अपने सरक्षण मे लेकर उस बालक के इन

तीनों दोषों को मिटा देता है तथा देश, जाति और कुल के विशेष संस्कार को मिटाकर उसे विराट कुल की दीक्षा देता है। प्रकृति, जीव और ब्रह्म की आध्यात्मिक शिक्षा देकर वह उसकी आत्मा का विकास करता है तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकपर्यन्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा द्वारा उसकी देह और भौतिक सुख-सुविधाओं की जानकारी कराता है, विभिन्न विधाओं, विज्ञानों का ज्ञानसंग्रह करने की प्रेरणा देता है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ की प्रक्रिया समझाता है और विश्व-मानवतावादी दृष्टि का संन्यास के रूप में अन्तिम लक्ष्य प्रतिपादित करता है। इस मन्त्र से यह भी संकेत मिलता है कि शिक्षा ज्ञान संग्रह नहीं, ज्ञान का लोकोपयोगी क्रियान्वयन भी है। अतः शिक्षा-संस्थाओं में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए।

प्राचीनकाल में ऐसे शिक्षणालयों का उल्लेख मिलता है जो गुरुकुल थे और जिनका निर्माण नगरों से दूर होता था। प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा आदि छः शिष्य पिप्पलाद के आश्रम में जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण से भृगु, छान्दोग्य उपनिषद् में हारिद्रुमत से सत्यकाम तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रजापति से इन्द्र तथा विरोचन आश्रम में ही शिक्षा ग्रहण करते हैं। रामायणकाल में वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा अगस्त्य के आश्रम गुरुकुल ही हैं। भारद्वाज का आश्रम भी गुरुकुल है। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में अगस्त्य के विद्यापीठ की बड़ी प्रशंसा वर्णित है। यहाँ देवता, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध आदि भी अगस्त्य से शिक्षा ग्रहण करने आते थे :—

> अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
> अगस्त्य नियताहाराः सततं पर्युपासते॥

महाभारतकाल में अङ्गदेश में कौशिकी के तट पर शृङ्ग का तपोवन था, जहाँ आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। बदरीनाथ में व्यासजी का आश्रम था। पैल, जैमिनि तथा वैशम्पायन यहीं के स्नातक थे। मेरु पर्वत के पार्श्वभाग में कर्मकाण्ड की शिक्षा के लिए वसिष्ठ का गुरुकुल था। आदि पर्व के अनुसार कण्व के आश्रम में अनेक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम जी युद्ध-विद्या की शिक्षा देते थे।

नैमिषारण्य पुराणों के अध्यापन का केन्द्र था, जिसके कुलपति शौनक थे। मध्य प्रदेश में उज्जैन और पूर्व में काशी में अनेक आचार्य-कुल रहे। आधुनिक युग में गुरुकुल और ऋषिकुल नाम से प्राचीन परिपाटी को पुनरुज्जीवित स्वामी श्री श्रद्धानन्द और मदनमोहन मालवीय जी ने किया। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा की समन्वित प्रणाली का अनुगमन इनका लक्ष्य था। नगरों से दूर सुरम्य वातावरण में योग्य सदाचारी गुरुओं के निकट रहकर बारह या सोलह वर्ष तक शिक्षा, समान आवास, समान वेशभूषा, समान शिक्षा और समान व्यवहार के आधार पर दी जाती थी। वेद भी कहता है—

'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः'।

अत. गुरुकुल उस शिक्षाप्रणाली के आदर्शरूप थे, जहाँ द्रुपद और द्रोण, श्रीकृष्ण और सुदामा बिना किसी भेदभाव के समान सुविधाओ के साथ पढते थे। तुल्य खान-पान, रहन-सहन और शिक्षा की समाजवादी रूपरेखा यहाँ मूर्तरूप में स्वीकृति थी। परवर्ती काल मे तक्षशिला, नालदा, काशी तथा वलभी मे आवासीय विश्वविद्यालय गुरुकुलो की परिपाटी पर ही खोले गए। मथुरा, अजता, गधार तथा भुवनेश्वर की कला में गुरु-शिष्य और शिक्षण के अनेक दृश्य अकित है। शुगकाल से लेकर १२वी शती तक किसी न किसी रूप मे यह परम्परा जीवित रही। गुरु, देवतुल्य पूजे जाते रहे और शिष्य पुत्रवत् वात्सल्य पाते रहे। भुवनेश्वर के राजरानी मदिर के शिलापट्ट पर उत्कीर्ण दृश्य में तो गुरु-शिष्य की वेशभूषा का भी चित्रण है। यह कलाकृति दसवी शती की है। परा-अपरा विद्याओ का अध्ययन प्राचीन गुरुकुलो मे होता रहा है।

इस प्रकार हम देखते है कि गुरुकुलों की शिक्षापद्धति व्यावहारिक और चरित्र-निर्माणमूलक रही है। इसके लिए आवश्यक है कि आश्रमवास अनिवार्य हो, वहाँ रहते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया जाय तथा आचार्य के निकट रहकर उनके निजी जीवन से शिक्षा ग्रहण की जाय। प्राकृतिक वातावरण मे रहकर बलिष्ठ शरीर का निर्माण, समानता का जीवन जीकर सामाजिक चेतना की प्राप्ति तथा गुरु के आदर्शजीवन से प्रेरणा लेकर आत्मिक विश्वास या सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व का अर्जन गुरुकुल की देन है। इसी पद्धति को ध्यान मे रखकर गाँधीजी, विनोबाजी तथा डा० जाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम की नीव डाली। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शान्तिनिकेतन इसी साँचे मे ढला हुआ था। आज के वातावरण मे यदि प्राचीन गुरुकुलीय परम्परा का अनुसरण किया जाय तो आध्यात्ममूलक समतावादी समाज की स्थापना का लक्ष्य पूरा हो सकता है। स्वतन्त्र देश की शिक्षा-नींव आज भी मैकाले की परम्परा से जुडकर खडी हो, यह लज्जा की बात है। गुरु-शिष्य का माता-पिता जैसा सम्बन्ध, ब्रह्मचर्यपालन, समान शिक्षा तथा समान रहन-सहन पर आधृत शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है। उसके अभाव मे सामाजिक अभ्युत्थान और राष्ट्र-निर्माण की बात करना निर्मूल है।



भारतीय संस्कृति के प्रखर व्याख्याता, आर्यसमाज के प्रचेता-राजनेता, भारत सरकार के पूर्व शिक्षा राज्य-मन्त्री, राष्ट्रभाषा के प्रबल समर्थक, उच्चकोटि के शिक्षाशास्त्री तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति

माननीय प्रो० शेरसिंह जी

प्राचीन भारतीय इतिहास की कतिपय नवीन खोजें

—प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

काशी सदा से विद्या-नगरी रही है। भारतीय संस्कृति का यहाँ निर्माण हुआ। आधुनिक युग मे यहाँ अनेक प्रसिद्ध विद्वानो ने रहकर चिंतन की नई दिशाएँ प्रदान की। मै १९३८ से १९४२ ई० तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का छात्र रहा। वहाँ उस समय प्रो० अनन्त सदाशिव अल्तेकर, डा० रमाशकर त्रिपाठी तथा डा० राजबली पाण्डेय प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग के अध्यापक थे। उनके चरणो मे बैठकर मुझे बहुत सीखने का अवसर मिला। एम०ए० मे मैंने यही विषय लिया था। उस समय महामना मालवीय जी, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पंडित बटुकनाथ शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जैसे महान् विद्वानो से भी मुझे ज्ञान-प्राप्ति का सौभाग्य मिला।

इतिहास के दो पक्ष होते हैं : प्रथम है चिन्तन का पक्ष, जो मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास से सबंधित है। दूसरा तथ्यात्मक पक्ष है, जिसके अन्तर्गत पूर्वज्ञात तथ्यो के साथ नई जानकारियो को जोड़कर उन सब का वैज्ञानिक विश्लेषण होता है।

प्राचीनकाल से लेकर आधुनिककाल तक के भारतीय इतिहास को क्रमबद्ध रूप मे लिखे जाने के कई सराहनीय प्रयास हुए है। अब नये तथ्यो की जानकारी के साथ ज्ञात इतिहास मे कई नवीन अध्यायो को जोड़ना अपेक्षित है।

इतिहास का केन्द्र मूलत. मानव है। अत: इतिहास के लेखन में तथ्यो का जहाँ वस्तुपरक आकलन हो वही यह भी आवश्यक है कि उसका केंद्रबिंदु मानवविकास हो। स्वतत्रता–प्राप्ति के बाद इतिहास–विवेचन की दिशा मे बहुत कार्य हुआ है। नये तथ्यो की जानकारी से ये विवेचन बहुत सार्थक सिद्ध हुए हैं। अब से ४५-५० वर्ष पहले इतिहास अध्ययन-अध्यापन का जो स्वरूप था उसमे अब काफी परिवर्तन हुआ है। सबसे बडी बात यह हुई कि इतिहास-लेखन में स्रोत के रूप मे पुरातत्व को काफी महत्व दिया जाने लगा है। इस स्रोत के अन्तर्गत सिक्के, पुरालेख, मूर्तियाँ, वास्तुकला

के रूप और उसी तरह के अन्य अवशेष आते हैं। इनसे इतिहास के लिखने एव समझने मे काफी सहायता प्राप्त हुई है।

१९४३ से पंद्रह वर्षों तक मेरा कार्यक्षेत्र उत्तर प्रदेश रहा। वहाँ लखनऊ और मथुरा के पुरातत्व संग्रहालयो में तथा प्रदेश के पुरातत्व अधिकारी के रूप मे मुझे कार्य का अवसर मिला। सितम्बर, १९५८ मे मेरी नियुक्ति सागर विश्वविद्यालय के नव-स्थापित प्राचीन इतिहास-पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष पद पर हुई। मध्यप्रदेश मे पुरातत्व की सामग्री प्रचुर रूप मे उपलब्ध है। प्रागैतिहासिककाल से लेकर उत्तरमध्यकालीन इतिहास तक के स्रोत वहाँ मौजूद हैं। क्षेत्रीय इतिहास का सम्यक् बोध कराने वाले साधनो के अलावा वहाँ ऐसे स्रोत भी प्राप्त हुए हैं जो समूचे भारतीय इतिहास और सस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। यही बात देश के कई अन्य क्षेत्रो के सबध में भी लागू हो सकती है।

पिछले दस वर्षों मे जो विशेष खोजे हुई है उनकी यहाँ सक्षिप्त चर्चा करूँगा। भारत के उत्तर में गिलगिट का क्षेत्र है। वहाँ पिछले वर्षों मे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। वह सामग्री पुरालेखो, देवाकृतियो आदि के रूप मे प्राप्त हुई है। अधिकांश लेख खरोष्ठी और प्राकृत भाषा मे है। उनका समय ई०पू० प्रथम शताब्दी से लेकर ईसवी दूसरी शती तक है। इन लेखो की सख्या १०० से भी अधिक है। ये गिलगिट के चिलास नामक स्थान मे मिले है। वहाँ से होकर प्राचीन यात्री मध्य एशिया जाते थे। वहाँ से चीन और कोरिया जाने का मार्ग था। चिलास का यह केन्द्र बहुत बडा पडाव था, जहाँ लोग एकत्र होते थे। वहाँ शिलाओ पर कृष्ण-बलराम, बुद्ध आदि अनेक भारतीय देवताओ की आकृतियाँ बनी है। उन आकृतियो के नीचे देवो के नाम खरोष्ठी में लिखे हैं। कृष्ण की प्रतिमा के नीचे "वासुदेव", बलराम की प्रतिमा के नीचे "बलदेव" और बुद्ध की प्रतिमा के नीचे "बोधिसत्व" अंकित हैं।

चिलास क्षेत्र से ब्राह्मी लिपि मे भी कई उल्लेखनीय लेख प्राप्त हुए है। जिनमे हरिषेण, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि का बोध होता है। समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभिलेख उत्तर भारत मे अनेक स्थानो पर मिले हैं, यथा—मथुरा, मेहरौली, उदयगिरि, साँची आदि। गिलगिट-चिलास क्षेत्र के ब्राह्मी लेख ईसवी चौथी शती के हैं। इनसे प्रारंभिक गुप्तकालीन इतिहास पर रोचक प्रकाश पड़ा है। दिल्ली के पास मेहरौली नामक स्थान पर सुरक्षित लौह स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख से पता चला था कि 'चन्द्र' के द्वारा वाह्लीक की विजय की गयी। सिंधु की सप्त (सात) धाराओ को पार कर उसने वाह्लीक क्षेत्र को विजित किया। अब उक्त नये अभिलेखो की प्राप्ति से इस बात को बल मिला है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा वाह्लीक की विजय की गयी।

भारत का प्रसिद्ध उत्तरापथ मार्ग यारकंद, काशगर और खोतन होते हुए चीन तक जाता था। चिलास मे अनेक भारतीय देवताओ की मूर्तियों एव अभिलेखो के मिलने से पता चला है कि यह स्थान व्यापारियो का महत्वपूर्ण केन्द्र था तथा एक प्रमुख पडाव के रूप में इसका महत्व हो गया था। यहाँ से होकर चीन तक आवागमन होते थे।

प्राचीन गधार और उद्यान क्षेत्रो मे भारतीय संस्कृति का प्रसार ईसा पूर्व मे हो चुका था। बौद्ध धर्म को उन क्षेत्रो मे विशेष रूप से अपनाया गया। मौर्यकाल के बाद बौद्ध धर्म मे महायान तथा सर्वास्तिवाद नामक शाखाओ का विकास हुआ। सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत अनेक बडे विचारक हुए। उन्होने इस धर्म को तर्कसंगतरूप दिया तथा कर्मकाण्ड वाले भाग को बहुत कम कर दिया। इसी कारण बौद्ध धर्म मध्य एशिया, चीन, कोरिया, जापान आदि देशो मे फैला। इस कार्य मे अश्वघोष आदि बौद्ध विचारको का बडा योगदान था। सर्वास्तिवाद का उदय सम्राट अशोक के समय मे मगध मे हुआ। उस क्षेत्र मे उस समय हीनयान की जड़ें बहुत दृढ हो चुकी थी। पाटलिपुत्रक्षेत्र के हीनयानी लोगो ने सर्वास्तिवाद को स्वीकृति नही दी। तब इस नये मत के अनुयायी मथुरा आये और वहाँ अपना केन्द्र स्थापित किया। मथुरा मे उन्होने अपने धार्मिक सिद्धान्त के अनेक ग्रन्थ लिखे। मथुरा की कला को देखन से पता चलता है कि वहाँ बौद्ध धर्म को व्यापक तर्कसगत रूप प्रदान किया गया।

मथुरा से स्र्वास्तिवादी कश्मीर गये और वहाँ से मध्य एशिया पहुँचे। बौद्ध धर्म के प्रचार की यह कथा बहुत रोचक है। भारतीय तथा चीनी साहित्य मे इस सबध मे जो विवरण उपलब्ध थे उनकी पुष्टि अब अनेक पुरातात्विक खोजो से हुई है। ये खोजे मथुरा, गधार, उद्यान तथा मध्य एशिया के क्षेत्रो मे की गयी है। इसी प्रकार वासुदेव-कृष्ण के बारे मे हाल मे महत्वपूर्ण जानकारी मिली है। मध्य प्रदेश के बिलासपुर जिले के मल्हार नामक स्थान से श्रीकृष्ण की कायपरिमाण मूर्ति मिली है। यह मूर्ति दूसरी शताब्दी ई० पूर्व की है और चारो ओर कोरकर बनायी गयी है। श्रीकृष्ण को उसमे पर्णवस्त्र पहने हुए दिखाया गया है। इस पाषाण-मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराने वाली महिला का नाम मूर्ति पर अशोककालीन ब्राह्मी मे लिखा है। भारद्वाजा नामक यह स्त्री पर्णदत्त नामक व्यक्ति की भार्या थी। इसी समय के आस-पास अगाथोक्लीज नामक हिंद-यूनानी शासक ने अपने नाम के सिक्के चलाए। उन पर एक तरफ भगवान श्रीकृष्ण को और दूसरी ओर बलराम की आकृति है। उस पर अकित भगवान् कृष्ण की मूर्ति को, मल्हार से प्राप्त मूर्ति की भाँति चक्र और असि लिए हुए दिखाया गया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ भी उन्हे पत्ते का वस्त्र पहने हुए दिखाया गया है। श्रीकृष्ण का भारतीय रूप उक्त यूनानी राजा के सिक्के पर है। गीता मे वर्णित श्रीकृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति इस सबध मे उल्लेखनीय है।

भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरो की मूर्तियाँ आज से दो हजार वर्ष पूर्व

आयागपट्टो पर उत्कीर्ण मिली हैं। प्रश्न है कि यह परंपरा कहाँ से आयी ? अभी तक यह माना जाता था कि कला मे मूर्ति-परंपरा यक्षो से ली गयी। यक्षो से बुद्ध एवं महावीर की प्रतिमा निर्मित करने की बात पर अनेक विद्वानो ने बल दिया है। किंतु हम देखते हैं कि ई०पू० दूसरी शताब्दी से श्रीकृष्ण-वासुदेव एव बलराम की प्रतिमाएँ बनने लगी थी। तत्कालीन कई ब्राह्मी अभिलेख राजस्थान एव मथुरा से मिले हैं। अतः इस बात को मानने का अब पुष्ट आधार प्राप्त है कि आरंभिक बुद्ध-बोधिसत्व मूर्तियो तथा तीर्थंकर-प्रतिमाओ की परपरा के मूल मे वासुदेव की उक्त प्रतिमाएँ रही होंगी। क्योकि ईसा पूर्व प्रथम शती तक यक्षो को देवरूप मे मान्यता नही मिली थी, जैसी कि वृष्णिवंशी पचवीरों को मिली थी।

हाल में कुषाण शासक वासुदेव का एक दुर्लभ स्वर्ण सिक्का मिला है। इस राजा का विदेशी नाम न होकर श्रीकृष्ण का ही नाम (वासुदेव) था। इस सिक्के की विशेषता यह है कि उस पर चतुर्भुजी श्रीकृष्ण को प्रदर्शित किया गया है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नयी खोज है।

गत अनेक वर्षों मे मध्य प्रदेश के चम्बल, बेतवा तथा नर्मदा आदि नदियो की घाटियो मे सर्वेक्षण-कार्य कराया गया है। डा० वि० श्री० वाकणकर तथा इन पक्तियो के लेखक ने अपने कई विद्यार्थियों के साथ इन घाटियों से बहुसख्यक प्राचीन शिलागृहो को ढूँढ निकाला है। अनेक प्राचीन स्मारक, मूर्तियाँ, पुरालेख और सिक्के भी प्राप्त हुए है। अनेक शिलागृहो के स्वरूप वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड मे वर्णित शिलागृहो की भाँति हैं। इनमे से अधिकाँश प्राकृतिक हैं जिनमे आदिम मानव रहते थे। उन लोगो ने अपने इन आवासो में मानव, पशु-पक्षी, पत्तियो, वाद्ययत्रो, नृत्य, अग्नि-पूजा आदि के अनेक चित्र भी बनाए। अनेक प्रतीक-चिह्न भी यहाँ अकित हैं। ये प्रतीक नदी, इन्द्रध्वज, स्वास्तिक, चन्द्रमेरु आदि हैं। इस प्रकार के प्रतीक प्राचीन मूर्त-शिल्पो तथा मुद्राओ पर भी मिले हैं। शिलागृहो में बने हुए ये प्रतीक शोध की नवीन सामग्री प्रदान करते हैं। इधर मैंने मालवा के क्षेत्र मे भी कुछ कार्य कराया है। यहाँ से प्राप्त प्रमाणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूलत: विक्रम संवत् इस पूरे क्षेत्र पर शासन करने वाले मानव-जनो ने चलाया। मालवो का भारतीय सस्कृति के उत्थान में बड़ा योगदान है।

मालवो के पश्चात् मालवा के क्षेत्र तथा दक्षिण-पूर्वी राजस्थान पर औलिकर नामक राजवश का शासन हुआ। इस वश के प्रसिद्ध शासक यशोधर्मा ने हूण-आक्राता मिहिरकुल को परास्त कर दशपुर (आधुनिक मंदसौर) के समीप इस विजय के उपलक्ष्य मे अपना विजयस्तंभ स्थापित कराया। हाल मे मालवा मे सीतामऊ के पास रिस्थल नामक स्थान से एक अन्य महत्वपूर्ण ब्राह्मी लेख मिला है। उसमें हूणो के एक अन्य आक्रमण का तथा हूणो की पराजय का उल्लेख है। इस नवीन लेख मे औलिकर वंश

का वर्णन मिलता है तथा उसके शासक प्रकाशधर्मा की उपलब्धियो की चर्चा भी। इस वश ने वैदिक परम्परा को आगे बढाने मे बड़ा कार्य किया।

मालवगण तथा औलिकर राजवश के अलावा मौखरि वंश का इस क्षेत्र तथा आस-पास के भूभाग से संबन्ध था। कोटा, नादसा आदि स्थानो से मौखरियों के अनेक लेख मिले हैं। वे भ्रमणशील थे और भ्रमण करते हुए गया तक पहुँच गये थे। गया के पास बराबर पहाड़ी पर उनके लेख प्राप्त हुए हैं, जो ईसा की तीसरी शताब्दी के हैं। पुन: वे लोग मध्य-प्रदेश के मेकल जनपद मे चले गये। यह स्थान आधुनिक मध्य-प्रदेश का शहडोल-सीधी क्षेत्र था। हाल ही मे उनका एक ताम्रपत्र सीधी जिला के शकरपुर नामक स्थान मे मिला है। एक शिलालेख मध्य प्रदेश के नरसिंहगढ के समीप (जिला-राजगढ) से प्राप्त हुआ है। इस लेख से पता चला है कि लगभग ५०० ई० मे मौखरियो की एक शाखा का शासन मध्यप्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र पर था। इस वश के तत्कालीन राजाओ ने नरसिंहगढ के समीप पहाडी क्षेत्र मे मौर्य शासक अशोक के समय मे निर्मित बौद्ध विहार का उद्धार कराया। वैदिक धर्मानुयायी मौखरियो के द्वारा बौद्ध धर्म की रक्षा के लिए निष्पन्न कार्य यह द्योतित करता है कि प्राचीन भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना बडे रूप मे विद्यमान थी। लेख मे मौखरि शासक का नाम अपराजितवर्धन् तथा उसके पिता का नाम त्रैलोक्यवर्धन् दिया है। मालवा से मौखरि कन्नौज गये जहां उन्होने अपना केन्द्र स्थापित किया। कन्नौज-वश मे ईशानवर्मा आदि कई बड़े शक्तिशाली शासक हुए। इनके पराक्रम एव प्रभाव का ही परिणाम था कि वर्धन वश के शासक प्रभाकरवर्धन ने मौखरि वश मे वैवाहिक-संबन्ध स्थापित किया। उसने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह मौखरि–राजा ग्रहवर्मा के साथ किया।

इधर कपिल के पास झिझौटा नामक स्थान से कुछ दिन पहले एक नया शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो गुर्जर प्रतीहार राजा भोजदेव का है। यह लेख सस्कृत में है और हरे पाषाण पर उत्कीर्ण है। इसमे महाराजा भोज के अमात्य द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों का विवरण मिलता है।

कुछ दिन पहले मध्यप्रदेश के राजगढ नगर से कुषाण सम्राट कनिष्क प्रथम का सोने का एक सिक्का मिला था। उस पर अग्रभाग पर वेदी में हवन करते हुऐ कनिष्क को दिखाया गया है और पृष्ठभाग पर भगवान् बुद्ध की खडी हुई आकृति है। यूनानी लिपि मे एक ओर उपाधियोसहित कनिष्क का नाम अंकित है और दूसरी ओर बुद्ध का नाम यूनानी मे 'बोड्डो' दिया है।

मध्यप्रदेश के महेशपुर (जिला सरगुजा) नामक स्थान से ब्राह्मी में अभिलिखित शिलापट्ट मिला है। इसका समय ईसवी नवी शती है, जबकि ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास आरम्भ हो गया था।

लेख से कलचुरिवंश के तीन शासकों का पता चला है—युवराज, उसका पुत्र आदित्यराज तथा तत्पुत्र लक्ष्मणराज। ये तीनो कलचुरियों की प्रमुख डाहल शाखा के थे, जिसकी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के समीप) थी। इस नये शिलालेख से कलचुरि-इतिहास पर नया प्रकाश पड़ा है।

मंदसौर जिला के हिंगलाजगढ नामक स्थान से पिछले कई वर्षों में लगभग आठ सौ पाषाण प्रतिमाएँ मिली है। उनका समय ईसवी छठी से ग्यारहवी शती तक है। इस नवीन खोज से ज्ञात हुआ है कि उक्त स्थान, शिव तथा शक्ति-पूजा का एक बडा केन्द्र था, जहाँ दीर्घकाल तक मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण होता रहा। कला के चारुत्व पक्ष एव मूर्तिविज्ञान के विकास के साथ यहाँ की प्रचुर कलाराशि से यह भी ज्ञात हुआ है कि विभिन्न धर्मावलम्बियो मे यहाँ सौहार्द तथा समवाय की भावना थी।

उज्जैन से ई० पूर्व दूसरी तथा प्रथम शती की ताँबे की अनेक महत्वपूर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई है। उन पर शिव के अनेक रूप अंकित हैं, विशेषत: शिव के नटराज रूप को अनेक भावो मे प्रदर्शित किया गया है। मध्यप्रदेश के पवाया (पद्मावती) नामक स्थान से भी अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं जो ई० दूसरी–तीसरी शती के हैं। उन पर शिव को दण्ड–कमण्डलु लिए हुए दिखाया गया है। उक्त सिक्को से पता चला है कि कला मे शिव के नटराज–भाव का उद्‌भव उत्तर भारत मे हुआ। मध्य प्रदेश एव महाराष्ट्र से शिव की कतिपय मूर्तियाँ अष्टमुखी मिली हैं। ये शिव के 'विभव-रूप' की द्योतक हैं। हाल मे मध्य प्रदेश के बिलासपुर जिले मे संगमग्राम (वर्तमान ताला) से शिव की एक अष्टमुखी अद्‌भुत पाषाणमूर्ति मिली है, जो विशालता तथा नवीन प्रतिमा–लक्षणो के आधार पर बेजोड़ कही जा सकती है।

प्राचीन शिक्षा के उद्देश्य और गुरुकुल प्रणाली

—डा० भूपेशचन्द्र सक्सेना

प्रस्तावना :

स्वतंत्र भारत मे १९४७ के पश्चात भी शिक्षानीति न्यूनाधिक वही रही है जो कि ब्रिटिश शासनकाल मे १८३५ मे प्रारम्भ की गई थी। इस नीति मे कुछ परिवर्तन १९६८ के वर्ष मे किये गये जिससे कि भारत का आधुनिकीकरण किया जा सके और विज्ञान की प्रगति से हमारे देशवासी पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। किन्तु स्वतंत्रताप्राप्ति के ३९ वर्ष पश्चात् भी शिक्षा, देश की वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति - स्वदेशीय और अतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे—पूर्ण करने असमर्थ रही है। अत हमारे देश मे १९८५ से एक बार फिर राष्ट्रीय उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए विचार-विमर्श प्रारम्भ किया गया है। दूसरे यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इस प्रकार शिक्षा मे बारबार परिवर्तन लाने के लिए विचार क्यो उठता रहा है ? सम्भवतः इसका एक कारण यह है कि इसके उद्देश्यो को ध्यान मे रख कर शिक्षाप्रणाली का निरूपण नही किया गया है। यह शिक्षा कब, कैसी और कितनी होनी चाहिए, आदि विषयो को भी ध्यान मे नही रखा गया है। अत आवश्यकता इस बात की है कि हम प्राचीन के सदर्भ मे इसका पुनरावलोकन एव परवर्द्धन करने का प्रयत्न करें। परन्तु मैं यहाँ समय को ध्यान मे रखते हुए केवल गुरुकुल प्रणाली के सदर्भ मे उद्देश्यो पर संक्षेप मे विचार प्रस्तुत करूँगा।

यहाँ शिक्षा के उद्देश्यो की समीक्षा से पूर्व हमारे लिए राष्ट्र और शिक्षा जैसे शब्दो का अर्थ भी जानना अति आवश्यक है।

राष्ट्र :

राष्ट्र की परिभाषा एक भौगोलिक राजनीतिक इकाई के रूप मे देना बड़ा सरल है, परन्तु आज भारत जैसे विविधता वाले देश मे राष्ट्रीयभावना को जाग्रत रखना कठिन कार्य हो गया है। तथापि इसमें सदेह नहीं कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इसकी आधारशिला सांस्कृतिक एकता को आज तक बनाये रखने में सफल हुई है। इस संस्कृति के जन्मदाता आर्यों की ही हम सन्तान हैं जिनकी प्रजातियो के नाम पर ही हमारे देश का नाम आर्यवर्त पड़ा। फिर भी कुछ शकाएँ उनके मूलनिवास स्थान को लेकर इस क्षेत्र मे उठती रही हैं। पुरातत्वशास्त्री डी० पी० एस० द्वारिकेश ने १९७९ मे मध्य प्रदेश के पहाड़गढ़ क्षेत्र की खुदाइयो मे ऐसी गुफाओ को खोज निकाला जहाँ आर्यों के निवास और उनके देवी-देवताओ के स्पष्ट अकन मिले हैं। यह ६०० वर्ग मील क्षेत्र मे फैली हुई है। यहाँ प्राप्त चित्रो मे वैष्णव, शैव व तान्त्रिक मतो और आर्यो के सूर्य उपासना के आठो प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों से सूर्य और चन्द्र सिद्धान्तो के साथ ज्योतिष के गणित सिद्धान्तो की जानकारी का भी पता चलता है। इन गुफाओ का समय तेईस हजार ईसा पूर्व आका गया है। उनके अनुसार आज यहाँ निवास करने वाली सेअर और सहरिया जातियाँ रामायण की शबर जाति थी। इसी प्रकार कुछ चित्रित गुफाएँ भीमबेटका से १९५६ मे खोज निकाली गई थी जिनकी एक रिपोर्ट १९७७ मे पुरातत्व विभाग ने छापी थी। इनका समय ५००० से १०,००० ई० पू० आंका गया था। स्पष्ट है कि इस प्रकार आर्यों के मूल के सिद्धान्तो पर चल कर ही आज हम "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरियसी" के सिद्धान्त का पोषण कर सकते हैं और यह सब तभी सम्भव है जब कि हमारी शिक्षा प्राचीन सस्कृति और इतिहास की पृष्ठभूमि मे भविष्य के विज्ञान और तकनीक को अपनाये। इसी तथ्य मे निहित है राष्ट्र का स्वरूप और उसकी सच्ची परिभाषा। इसके साथ ही हम इस सच्चाई से भी विमुख नही हो सकते कि भारत मे सैकड़ो-हजारो वर्ष पूर्व से विदेशी आक्रमणकारी आते रहे और उनमें से बहुत से यही के निवासी हो गये। अत. आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत का प्रत्येक स्थायी निवासी इस भूमि को अपनी मातृभूमि माने और किसी भी प्रकार के विदेशी प्रचार से प्रभावित न होते हुए, तन-मन और धन से इस भूमि को समर्पित रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति नि.सदेह शिक्षा के माध्यम से हो सकती है और एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण हो सकता है जो सब प्रकार से सशक्त हो।

शिक्षा :

अब हम शिक्षा शब्द पर भी कुछ विचार कर लें। सुकरात के अनुसार—"शिक्षा का अर्थ है—ससार के उन सर्वमान्य विचारो को प्रकाश मे लाना जो कि प्रत्येक मानव के मस्तिष्क मे स्वभावतः निहित होते है।" परन्तु हमारी दृष्टि मे शिक्षा केवल सर्वमान्य विचारो तक सीमित रखा जाने वाला शास्त्र नही।

हम भारतीयो के लिए शिक्षा शब्द विशेष महत्व का है जिसके माध्यम से बालक-बालिका को जन्म से सम्पूर्ण मानव बनाना है। अब प्रश्न यह है कि सम्पूर्ण मानव से क्या तात्पर्य है। मनुष्य वह प्राणी है जो मनन कर सकता है। अतः वह स्वयं के लिए, परिवार व समाज के लिए इस योग्य बन सके कि उसका विकास हो—भौतिक व

आत्मिक। ऐसे सर्वांगीण उपयोगी मनुष्य का निर्माण शिक्षा द्वारा ही हो सकता है अन्यथा नहीं। शिक्षा कुम्हार के उस चाक की तरह है जिस पर रखी मिट्टी के थुम्बे से मनचाहा बर्तन तैयार किया जाता है, अन्तर केवल इतना है कि एक ही प्रकार से प्राप्त शिक्षा से भिन्न प्रकार के मनुष्य बन सकते हैं, जिसका मुख्य कारण ईश्वरप्रदत्त बुद्धि का अन्तर है। निस्संदेह मनुष्य बिना सुमुचित शिक्षा ज्ञान) के कुछ भी प्रगति नहीं कर सकता। विकास के लिए कुछ आधारभूत ज्ञान (शिक्षा) आवश्यक है—उदाहरण के लिए जिस प्रकार शब्दो और वाक्यों का ज्ञान अक्षरज्ञान के बिना नहीं हो सकता, वैसे ही यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा की एक निश्चित दिशा के बिना मनुष्य की गुप्त शक्तियों को प्रकट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वास्तव में शिक्षा कोई बाहर से ठूँसी जाने वाली वस्तु नही है। मनुष्य को बुद्धि समझने के लिए दी गई है और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति के लिए। जब तक जीव और शरीर का सम्बन्ध है, यह ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानवृद्धि की शृंखला बराबर जारी रहनी चाहिए। अत आधुनिककाल मे शिक्षा के नवीन उद्देश्य खोजने की अपेक्षा उसकी सही दिशा खोजनी होगी जिससे हम विश्व में अपना स्थान बना सकें और मध्ययुगीन "कूप मण्डूक" की स्थिति से बच सकें। इसके साथ ही हमें यह भी नही भूलना है कि विरासत मे हमे जो सस्कृति हजारो वर्षों के तप और ज्ञान से मिली है वह भी नष्ट न हो जाये और हम अपनी जड़ों को स्वयं ही न काट देवें। स्पष्ट है कि हमें चाहिए कि बिना किसी पूर्वाग्रह के सांस्कृतिक धरोहर को विस्मृत न करते हुए, नवीनतम उद्देश्यो की पूर्ति हेतु गुरुकुल प्रणाली मे आवश्यक आधुनिक परिवर्तनो के माध्यम से नयी राह खोजें।

प्राचीन परम्परा का उद्देश्य—चरित्र निर्माण :

भारत एकमात्र ऐसा देश है जो इस बात पर गौरव कर सकता है कि हमारा देश ईसा पूर्व ५,००० वर्ष से भी पूर्व सास्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से समुन्नत था। ससार भर मे जिस समय ऐसे साहित्य की परिकल्पना भी नहीं थी उस समय भारत मे ऋग्वेद तथा अन्य ग्रन्थो का निर्माण हुआ। आज का प्रत्येक भारतीय उन सिद्धान्तो-विचारो से चाहे सहमति नही भी रखता हो तथापि उनसे प्रेरणा लिए बिना नही रह सकता। यह कहने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं कि यदि हम अपने को ऐतिहासिक परम्पराओ-सिद्धान्तों से अनावश्यकरूप से पृथक कर ले तो सम्भवतया हमारा अस्तित्व ही खतरे मे पड जायेगा। इसके साथ ही दूसरो से हमे वह सब अपना लेना चाहिए जो हमारी सांस्कृतिक विरासत को हिलाए बिना प्राप्त हो सकता हो। नि.सदेह हम पहले प्राचीन सिद्धान्तो और परम्पराओं को परख लें जिन्होने उत्तम शिक्षा व सिद्धान्त दिये जो किसी काल अथवा देश मे बाँधे नही जा सकते, परन्तु वर्तमान के सदर्भ मे फीके पड़ते दिखाई देते हैं। हमें तैत्तरीयोपनिषद् के इस वाक्य—"यान्यस्माकं सुचरितानितानि त्वयोपास्यानि नो इतराणी," अर्थात् "माता-पिता, आचार्य अपनी सन्तान और शिष्यो को सदा सत्य

उपदेश करें और यह भी कहें कि जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं उनको ग्रहण करें और जो–जो दुष्ट कर्म हों उनका त्याग करें" की भाँति, परिवर्तन को लाने अथवा स्वीकार करने में हिचकिचाना नहीं चाहिए।

भारतवर्ष में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का नाम त्रेता युग से चले आने का कारण भी यही है कि वह वैदिक सिद्धान्तों के मात्र पोषक ही नहीं अपितु उनका पालन करने वाले भी थे। किन्हीं भी महान चरित्रों की जीवनी उठा कर देख लें तो पता चल जायेगा कि उन्होंने अपने जीवन को उत्तम आदर्शों वाला बनाने का सद्यत्न किया है। परन्तु क्या सब कुछ व्यक्ति स्वतः एक स्थिति अथवा आयु का होने पर कर सकता है–तो उत्तर होगा– कदापि नही। किसी भी आदर्श पर चलना अँगारो पर चलने जैसा है और वह भी एक सतत् अभ्यास का परिणाम होता है। इसलिए हमारे ऋषियो, मनीषियो ने कहा है कि बालक को जन्म से ऐसे वातावरण में विकसित होने का अवसर प्रदान करना चाहिए कि वह स्वयं और समाज के लिए एक उपयोगी व्यक्तित्व के रूप मे बढ सके। क्या व्यक्तित्व का विकास विद्यालयों में पूरा हो सकता है ? क्या भारत जैसे देश में पश्चिम के सिद्धान्तो पर आधारित शिक्षण से हम अपने उद्देश्यों को पा सकते हैं ? इन प्रश्नो का उत्तर हाँ या न मे देना न तो सम्भव है और न ही उचित। इसका मुख्य कारण यह है कि काल और स्थान के कारण कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं, परन्तु आधारभूत तत्वो को—विचारों को, सिद्धान्तो को त्याग कर हम वह परिणाम नहीं पा सकते जो कि इतिहास की दृष्टि से भी आवश्यक हैं। सम्भवतः इन्हीं सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये हमारे लिए शतपथ ब्राह्मण का यह वाक्य आज भी महत्वपूर्ण है "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद" अर्थात जब तीन उत्तम शिक्षक–एक माता, दूसरा पिता, और तीसरा आचार्य हो तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। जिस संतान के माता–पिता विद्वान हों और शिक्षा को प्रतिबद्ध हों तो उस बालक का भविष्य स्वतः उज्जवल होगा।

निःसदेह जब हम इस दृष्टि से विचार प्रारम्भ करते हैं तब प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की ओर हमारा ध्यान जाता है। हमारी संस्कृति के आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम राम और योगिराज कृष्ण दोनों ने गुरु के समीप रहकर ही वेद और अन्य शास्त्रो का अध्ययन सामान्य विद्यार्थी के रूप मे किया था। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसी प्रकार वर्तमान युग के पथप्रदर्शक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती, जिनका बचपन का नाम मूलशंकर था, का जन्म श्री कर्षन जी तीवारी के घर टंकारा ग्राम में हुआ था और उनका पद ब्रिटिश राज्य के राजस्व कलक्टर का था परन्तु उनकी शिक्षा सामान्यरूप से वेदाध्ययन से प्रारम्भ हुई। गृहत्याग के पश्चात् दण्डि-स्वामी वृजानन्द के समीप रहकर किस प्रकार शिक्षा व गुरु प्रप्तारणा भी अन्य शिष्यों की भाँति उन्हें मिली, वह इतिहासप्रसिद्ध है। उन्ही से प्रेरणा लेकर स्वामी श्रद्धानन्द और स्वामी दर्शनानन्द ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को वर्तमानरूप में विकसित किया। निःसंदेह यह ऋषि कपिल,

कणाद् और गौतम के आश्रमों का ही बृहद् रूप था। १९वीं शताब्दी में जिस गुरुकुल प्रणाली का सूत्रपात हुआ उससे शिक्षाक्षेत्र में एक बड़ी क्रान्ति आई जिससे जनता का ध्यान पुस्तकीय शिक्षा के साथ-साथ चरित्रनिर्माण की ओर गया। गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली की विशेषता भी यही है— आश्रमवास तथा चरित्रनिर्माण। समाजवाद की स्थापना हेतु यह एक अच्छा रास्ता है। आश्रम मे रहकर शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् जब ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है तो मानो बूढा आचार्य कायाकल्प करके नवयुवक के रूप मे समाज एवं राष्ट्र की सेवा करने के लिए अवतीर्ण हो गया हो। चरित्रनिर्माण में गुरुकुल प्रणाली सर्वाधिक लाभकारी सिद्ध हुई है क्योंकि गुरु के समीप रहकर छात्र-छात्राओं के रहन-सहन, निवास, दिनचर्या, भोजन-वस्त्र आदि सभी कार्य सादगी एवं नियमपूर्वक होने कारण उनमें सहिष्णुता आती है। शरीर की तरह उनके मन को भी शुद्ध, पवित्र बनाने का प्रयत्न किया जाता है। मनु के अनुसार वैदिक विद्वान् यदि चरित्र-हीन हो तो वह सच्चरित्र व्यक्ति से उत्तम नहीं है (द्वितीय ९७ और ११८)। वार्तालाप और सत्संग मे रुचि रखना इस शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। संक्षेप मे गुरुकुल का स्नातक सादा जीवन और उच्च विचार रखने वाला होता है। यह चारित्रिक विकास का एक सोपान है जो कि स्वत ही राष्ट्रीयता की भावनाओ को जन्म देने वाला ही नहीं अपितु उनको प्रबल बनाने का भी कार्य करता है।

व्यक्तित्व का विकास :

शिक्षा चारित्रिकविकास के साथ-साथ व्यक्तित्व के विकास के उद्देश्य से ही दी जानी चाहिए। मनुष्य का बहुमुखी विकास जीवनयापन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन शिक्षाप्रणाली मे व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वभाविक रूप से ज्ञान दिये जाने की व्यवस्था थी। शिक्षा के अतिरिक्त गुरुकुल मे रहकर शिष्य न केवल दैनिक कार्यों का अभ्यस्त हो जाता था अपितु वह दस्तकारी के कार्य भी करता था। इस प्रकार वह श्रम के महत्व को भी भली-भाँति जान जाता था।

शिक्षा की उपादेयता :

राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यो मे उसकी उपादेयता मूलस्थान रखती है। शिक्षा निःसंदेह उपयोगी होनी चाहिए अन्यथा उसमे लगाया गया समय और धन अनुपयोगी सिद्ध होने पर उसकी आवश्यकता को ही चुनौती देता प्रतीत होगा। आज शिक्षा धनोपार्जन के लिए होती है और धन से मनुष्य अपनी भौतिक पिपासा शान्त करता है, वही उसकी प्रथम आवश्यकता है--उपादेयता है। हममें से कौन नही जानता कि ऐसी स्थिति १९७० के दशक में भी देखने को मिली थी जबकि कन्वोकेशनो के अवसर पर प्रत्येक विश्व-विद्यालयो के छात्रो ने ऊँची आवाज में डिग्रियो के महत्व को नकारते हुये रद्दी

कागज के टुकड़े की संज्ञा दी थी और कहीं-कहीं पर उन्हें फाड़ भी डाला था। स्पष्ट है कि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से संघर्ष करने से ही होती है, न कि डिग्री प्राप्ति से। अतः सामाजिक और आर्थिक समृद्धता के लिए यह आवश्यक है कि वह भौतिक, बौद्धिक, और अनुभूतिक विकास के लिए संतुलितरूप में सततप्रयत्नशील रहे। प्राचीन काल में इसी तथ्य को "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" शब्दों में समेट कर प्रस्तुत किया गया जिसमें चारों उद्देश्यों का महत्व एक-दूसरे पुरुषार्थ से किसी प्रकार भी कम नहीं बताया। अस्तु शिक्षा किसी एक-दो अथवा चार-छः उद्देश्यों को लेकर नहीं दी जा सकती। वह तो मनुष्य के सर्वांगीण विकास का एक अंग है। यह बात दूसरी है कि दसवीं कक्षा अथवा बारहवीं कक्षा के बाद विशेषरूप से आप डाक्टर, इंजीनियर अथवा अन्य विशिष्ट शाखाओं के अध्ययन हेतु केवल उसी विषय की शिक्षा दें परन्तु नींव के समय आप एक बहुमुखी सर्वांगीण शिक्षा देना चाहेंगे और इसके लिए किसी नवीन प्रणाली का खोजना, पाठ्यक्रमों को बनाना आज केवल इसलिए चर्चा का विषय बन गया है क्योंकि विश्वसमाज के अनुरूप हम अपने देश को आगे बढाना चाहते हैं।

परन्तु क्या हमें सर राबर्ट पील के १८३४ की टॉमवर्थ उद्घोषणा से शिक्षा नहीं लेनी चाहिए कि बदलाव उसी समय और उतना लाना चाहिए जितना अत्यन्त आवश्यक सिद्ध हो। आज की विज्ञान की शिक्षा और दूसरी ओर कला के विषय एक दूसरे से विरोधाभास उत्पन्न नहीं करते, वरन् प्रत्येक का अपना क्षेत्र है। आज के विज्ञान ने जहाँ मनुष्य को सुख-सुविधाएँ उपलब्ध कराने मे सहायता दी है, वहीं कुछ ऐसी जटिल समस्याओं को भी जन्म दिया है जो कि आधुनिक शिक्षा की ही परिणति है। निःसंदेह प्राचीन विद्या इससे भिन्न थी जो कि अध्यात्म की ओर ले जाने वाली थी। शिक्षा जीवनोपयोगी और "मात्सन्याय" से बचने का साधन प्रदान करती है तो विद्या मनुष्य को मनुष्य बनना सिखाती है—अर्थात "मनुर्भव"। शिक्षा का यही उत्तम उद्देश्य है और भौतिक तथा अध्यात्म का समन्वय ही आज की आवश्यकता है। अतः अन्त मे मैं यही कहना उचित समझूँगा कि वर्तमान को उचित दिशा, शिक्षा के प्राचीन उद्देश्यो के पालन करने से ही मिल सकती है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों की दार्शनिक पीठिका

—डा० जयशंकर मिश्र, रीडर
इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमे व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। वस्तुत. मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। शिक्षा से मनुष्य का जीवन प्रजासम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नही होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशो का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन शिक्षा और ज्ञान से ही धर्मप्रवण नैतिक मूल्यों से युक्त, उच्च आदर्शों से संवलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्मनिर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण मे योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियो का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान, उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वो का निष्पादन और उसके सास्कृतिक जीवन का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य हैं। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति मे लगा रहता है। अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमें श्रद्धा, मेघा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[1] यहाँ हम प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यो की दार्शनिक पीठिका का विश्लेषण कर रहे हैं।

(१) मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान

मनुष्य के जीवन में धार्मिक वृत्तियों का उदात्त और गरिमामय स्थान है, जिससे मनुष्य का जीवन भक्ति-प्रवण और धर्म-प्रवण होता है। इस प्रकार की भावना भारतीय समाज में प्राचीनकाल से रही है। विद्यार्थियो के जीवन में भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है। ब्रह्मचारी द्वारा दैनंदिन किया, संध्योपासना, व्रतों का अनुपालन, धर्मसमन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिक वृत्तियों के उत्थान में योग देते रहे हैं। जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्मिक-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो धार्मिक

१—अथर्ववेद, ११।३।१५

भावना से और सबल होती है। व्रतों के पालन से संयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ स्वरूप का भान होता है जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है।[1] गुरुकुल में रहते हुए अग्नि-परिचर्या के नैत्यिक नियम का पालन ही ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था और अनुशासन का एक अंग भी।[2] मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया आदि अग्निकार्य और संध्योपासन ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे।[3]

गुरुकुल अथवा गुरु के सान्निध्य मे रहने वाला ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशो का पालन करता था। अगर उसे किसी बात पर शका होती थी तो गुरु उसका निवारण करता था। तैत्तिरीय उपनिषद् मे ऐसे पृच्छा करने वाले ब्रह्मचारी के लिए कहा गया है, "यदि तुम्हे कभी अपने कर्त्तव्य अथवा सदाचार के विषय मे सन्देह उपस्थित हो तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्त्तव्यपरायण, कोमल-स्वभाव के धर्मात्मा, ब्राह्मण, विद्वान हो उनकी सेवा मे उपस्थित होकर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो। इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर रोष और आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार मे तुम्हे ऊपर बताए गए गुणों से युक्त ब्राह्मण, विद्वानो के व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए।"[4]

सामान्यतः विद्यार्थी के लिऐ संध्या-वादन, पूजा-पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किए गए हैं। सत्यभाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य न बोलने से सभी धर्मों का क्षय हो जाता है।[5] शिक्षार्थी के विभिन्न नियम धर्ममूलक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होते थे। इन्ही नियमो के आधार पर

---

१ – रश्मिमाला, १०।२, व्रनाना पालनेनैव तद्गूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम्॥

२—छा०उ०, ४।१०।१, उपकोशलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचचार॥

३ – मनु० २।६६, उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥
तै०उ०, १।११, ... धर्म चर .... धर्मान्त प्रमदितव्यम्।

४—तै०उ०, १।११, अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता आलूक्षा धर्मकामाः स्यु यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथा.। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता आलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः।

५—अमृतमन्थन, १५।४, सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते।

विद्यार्थी लौकिक और पारलौकिक जीवन को उदात्त बनाने और विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने में सक्षम होता था। वह आध्यात्मिक जगत के विषय में जानने का प्रयास करता था तथा उसके निमित्त सात्त्विक जीवन को और तपःशील करता था। अतः मनुष्य के जीवन में तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन अनिवार्य माने गए[1] क्योंकि धर्ममूलक प्रवृत्तियाँ इन्हीं तत्वों से प्रेरित होती थी तथा व्यक्ति इन पर आचरण करता था।

छांदोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध अथवा आधार-स्तम्भ बताए गए हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान पहला स्कन्ध है। तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्य-कुल (गुरुकुल) में रहते हुए अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना तीसरा स्कन्ध है। इनका अनुगमन करने वाले पुण्यलोक को प्राप्त करते हैं।[2]

(२) मनुष्य के चरित्र का उत्थान

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य माना जा सकता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बड़ा महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान् सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव में माननीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मंत्र का ज्ञाता पंडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था।[3] वस्तुतः सच्चरित्रता मनुष्य का भूषण मानी गई है। आचार-सम्पन्न और चरित्रवान् व्यक्ति अभिनन्दनीय था तथा आचरणहीन और चरित्रहीन व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से ही संचालित होते थे। शिक्षा-अवधि में ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्त्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द्र, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्णन था, वही पंडित था।[4] शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसी और पाशविक प्रवृतियों पर नियन्त्रण रखता था तथा सत-असत् का भेद कर सकने में समर्थ होता था।

१—छां० उ०, ३।१७।४, अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।

२—छां० उ०, २।२३।१, त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीया। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति।

३—मनु० २।११८, सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रमी॥

४—महाभारत, अनुशासनपर्व, १२।३२।७८

जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारम्भ होता था। विद्यार्थी-काल में ही शिक्षा की यथोचित् प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तदनुरूप संघटित करने का अवसर मिलता था, इसलिए चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का वह सर्वोत्तम काल था। अपने इस काल मे शिक्षार्थी विभिन्न नियमो और निर्देशों का पालन सुगमतापूर्वक कर सकता था तथा व्यवहार, सदाचार और शील का अर्थ समझ सकता था।

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसीलिए कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता था और उसमे समस्त देवता अधिवास करते थे।[1] समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोको को समुन्नत करता था।[2] ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। यह माना गया था कि ब्रह्मचर्य के तप से राजा राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप मे शिक्षित करने की योग्यता अपने मे सम्पादित कर पाता था।[3] चरित्र और आचरण के उत्थान में ब्रह्मचारी का व्रत अनिवार्य था, इसीलिए शिक्षार्थी को 'ब्रह्मचर्य-व्रती' कहा गया था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्यरूप से आवश्यक इंद्रिय-निग्रह और व्रत-पालन का विचार भी प्रारम्भ मे ही इसके साथ संयुक्त हो गया था।[4] वस्तुतः चरित्र के उत्थान मे ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय अर्थात् वेद, अथवा दूसरे शब्दो में, ज्ञान को प्राप्त करना था[5] जो शाश्वत और दिव्य था। तप तो ब्रह्मचर्य जीवन का आवश्यक महिमामय अंग ही था।[6] शौच, पवित्रता, आचार, स्नानक्रिया, अग्निकार्य और सध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार-तत्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था।[7]

---

१ – अथर्ववेद, ११।५।२४, ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति।
तस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।

२—वही, ११।५।३, ब्रह्मचारी समिधा मेखलया।
श्रमेण लोकास्तपसा पिपर्ति ॥

३—वही, ११।५।१७, ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

४—गोपथब्राह्मण, १।२, १-७।

५—अमृतमन्थन, १।१।४५-४६, सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥ तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते। तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते।

६—प्रश्नो०, ५।३, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।

७—मनु० २।६९, उपनीय गुरुः शिष्य शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सध्योपासनमेव च ॥

(३) मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान

शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। विभिन्न प्रकार के निर्देशो, सयमों और नियमो से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिनसे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। शिक्षाप्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्तव्यो का पालन कर सकने मे सफल होता था। इससे उसके भीतर आत्म-सयम, आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेक-भावना, न्याय-प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होता था।

आत्म-विश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से होता है। प्राचीन भारत में यह माना गया कि शिक्षार्थी मे आत्मविश्वास का होना उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का कारण था। अपने कर्मों और उत्तरदायित्वो को आत्म-विश्वास से ही सही ढग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसीलिए ब्रह्मचारी मे यह आत्मविश्वास जागृत कराया जाता था कि वह भावी जीवन की भयंकर कठिनाइयो मे भी स्थिर-मति रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरु के सान्निध्य मे रहकर विभिन्न नियमो का पालन करता और अपने अद्भुत साहस का परिचय देता था। भविष्य के सकटमय जीवन को अपने अनुकूल बनाने मे उसका आत्म-विश्वास ही उसका एकमात्र सहायक होता था। शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन सस्कार होता था उसी समय उसका आत्मविश्वास जगाया जाता था तथा अग्नि से यह अर्चना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति मे वृद्धि करे[1] जिससे अग्नि-शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति की कीर्ति सभी दिशाओ मे प्रसारित हो। अनेक देवताओ के पूजन के साथ उसमे वह भावना दृढ की जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेंगे। ब्रह्मचारी की चोट, रोग और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था।[2]

ब्रह्मचारी के लिए आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आत्मसयम का अभिप्राय आत्मनियन्त्रण से था। अपने कर्त्तव्यो का पालन करने की दृष्टि से इन्द्रियों और मन की उच्छृ खल प्रवृत्तियो को नियंत्रित और व्यवस्थित रखना आत्मसयम था। इसमे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। गीता मे कहा गया है कि सयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दु:खो को दूर करता है जो यथायोग्य सोनेवाला और जागने वाला होता है।[3] इस तरह व्रती, नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्मसयम का महत्वपूर्ण आधार था। इससे

१—मा०गृ०सू०, १।५, अय ते इम आत्मा जात वेद. तेन वर्द्धस्व चेद्धि वर्द्धय चारमान्।

२—आश्व०गृ०सू०, १।२०।६, देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स मा मृत।

३—गीता, ६।१७, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तास्वप्नावबोधस्य योगी भवति दु:खहा॥

विवेक-भावना और न्याय-प्रवृत्ति का उदय होता था जिससे धार्मिकता और आध्यात्मिकता की अभिवृद्धि होती थी। अतः व्यक्तित्व के उत्थान मे इन सभी तत्वो का सक्रिय योग रहा है।

(४) सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन :

शिक्षित होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वो को निष्ठापूर्वक निष्पन्न करता था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था बल्कि वह अन्यान्य जिज्ञासु विद्यार्थियों को निःशुल्क विद्या भी प्रदान करता था। वह अपने कर्म करते हुए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा ठ्ठ रखता था। पुत्र, पति और पिता के रूप में वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करता था। विद्यार्थी के समावर्त्तन समारोह के उपदेश मे उसके लिए तैत्तिरीय उपनिषद् मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया था, 'सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय मे प्रमाद न करना। आचार्य की दक्षिणा दे देने पर सन्तति-उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। लाभ-कार्य में प्रमाद न करना। महान् बनने के शुभअवसर से न चूकना। पठन-पाठन के कर्त्तव्य मे प्रमाद न करना। देवता और पितरो के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) से आलस्य न करना। माता को देवी समझना। पिता को देवता समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना। अन्यान्य दोषरहित कार्यों को करना।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरदायित्व थे, जिन्हें वह शिक्षा-प्राप्ति के बाद सोत्साह मनोनिवेशपूर्वक निष्पन्न करता था।

सभी वर्णों और जातियों के अपने पृथक-पृथक कर्म थे, जिनको सम्पादित करना उनका परमधर्म था। सबके अपने व्यवसाय थे, जिनके अनुसार वे अपने उत्तरदायित्वो का निर्वाह करते थे। शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता था, अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करता था तथा अपने उद्देश्यो को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाता था। कार्य-विभाजन के अनुसार सभी वर्णों और जातियों के भिन्न-भिन्न कर्म थे जिनका अनुपालन करना सभी लोगो का कर्त्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विभिन्न कर्म थे, जिन्हे वे निष्ठापूर्वक सम्पादित करते थे। यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते है जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यों ने आपत्तिकाल

१—तै०उ०, १।११, सत्य वद। धर्मं चर। स्वाध्यामात्मन् प्रमद। आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी: सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यैं न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवोभव। अतिथि देवोभव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि।

में अपने वर्णगत कार्य का त्याग करके दूसरे वर्णों के कर्म अपना लिए, जिससे वे अपने परिवार और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकें।

(५) सांस्कृतिक जीवन का उत्थान

शिक्षा और विद्या के माध्यम से मनुष्य के सास्कृतिक जीवन का भी उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराएँ जीवन्त हो उठती हैं। अतः अपनी सन्तति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन सस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्याय विषयों का ज्ञान और उसका प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कण्ठस्थ करना और उन्हें यत्नपूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तत्कालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्त्तव्य था, साथ ही आर्य-सस्कृति का प्रधान उद्देश्य भी।

सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए ऋण से मुक्ति की अनिवार्यता मानी गई।[1] प्रत्येक द्विज परिवार मे इन तीनों ऋणों की सम्यक्रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्त्तव्य था। वस्तुत ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कर, व्यक्ति ऋषि-ऋण अथवा सस्कृति के प्रति अपने कर्त्तव्य से मुक्त होता है, जिस प्रकार यज्ञ द्वारा देव-ऋण से तथा सन्तान (प्रजनन) द्वारा पितृ-ऋण से। देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण, ये तीन ऋण थे, जिनसे मनुष्य को मुक्त होना अवश्यम्भावी था। देव-ऋण से तब मुक्ति मिलती थी, जब परिवार-समाज मे यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। ऋषि-ऋण से छुटकारा ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन करने से मिलता था। पितृ-ऋण सन्तान उत्पन्न करने से उतरता था। इस प्रकार मनुष्य के सास्कृतिक जीवन का विकास होता था।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त उदात्त और गरिमामय थे, जिनकी दार्शनिक पीठिका अत्यन्त दृढ और सशक्त थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति एक सुनियोजित और सुव्यवस्थित मार्ग से अग्रसर हुई तथा शिक्षा के विभिन्न आयामों को पराकाष्ठा तक पहुँची।

न्यू एल-२१, हैदराबाद कॉलोनी
बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी, वाराणसी

१—श० ब्रा०, १।५।५

प्राचीन भारत में तकनीकी शिक्षा

—अशोक कुमार सिन्हा
शैलेन्द्र तायल, एवं
रेनू तायल

प्राचीन भारत उच्चकोटि के विज्ञान और तकनीक के लिए प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत की तकनीकी शिक्षा को जानने के लिए उस समय की सामान्य शिक्षा को भी जानना आवश्यक है।

४००० वर्ष ईसा पूर्व सिन्धु घाटी के मोहनजोदड़ो स्थान से प्राप्त मिट्टी की मोहरो पर उस समय की लिपि में कुछ लिखा मिलता है लेकिन यह लिपि आज तक पढ़ी नही जा सकी है। हड़प्पा सभ्यता के खण्डहरो से प्रतीत होता है कि उस समय के नगर भवन तथा सड़कें निर्धारित योजना के अनुसार बनाये जाते थे। भवन-निर्माण पक्की ईंटो से होता था, आदि। इससे ज्ञात होता है कि हड़प्पा सभ्यता मे तकनीकी का उच्च स्तर था।

ऋग्वेद से पूर्व भारतीय शिक्षा सभ्यता का कोई क्रमिक इतिहास नहीं मिलता। यद्यपि ऋग्वेद से पूर्व भारत मे द्रविण सभ्यता का विकास हो चुका था किन्तु इसके अन्तर्गत शिक्षा-प्रणाली का कोई प्रामाणिक उल्लेख नही है। इसलिए शिक्षा का आरम्भ ऋग्वैदिक काल से ही माना जाता है।

व्यवस्थित साधन के अभाव मे ऋग्वैदिककालीन शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों ने उपदेश के द्वारा मन्त्रो को प्रदान किया।

साक्षात्कृत–धर्माण ऋषयो बभूवः।
तेडवरेभ्यो साक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान सम्प्रादुः।
(निरुक्त १.२०)

यह ज्ञान रक्षित करके आगे की सन्तति को हस्तान्तरित किया जाता था। वैदिक-कालीन परिवार-स्कूलो का इसी प्रकार सूत्रपात हुआ। ऋग्वैदिक काल मे शिक्षा सुसगठित तथा नियमित विद्यालयो मे नहीं दी जाती थी। विद्यार्थी गुरुकुलों अथवा आश्रमो मे गुरुचरणो मे बैठकर वेदमन्त्रों को उपदेश के रूप मे सुनकर कंठस्थ करता था और अपनी स्मृति में स्थायी करता था। विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहा जाता था। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य की परम्परा से शिक्षा पीढ़ी दर पीढ़ी "श्रुतिजीवी" होकर आगे बढ़ी। ऋग्वैदिक

काल मे तकनीकी शिक्षा का उल्लेख नही मिलता है किन्तु इसमें तत्कालीन ज्ञान और विचारधारा बीजरूप मे निहित थे।

उत्तरवैदिककाल मे शिक्षा के क्षेत्र मे विकास हुआ। ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थो का ज्ञान एक पीढी से दूसरी पीढ़ी मे हस्तान्तरित होने लगा। इस काल में लेखनकला का आरम्भ हो गया था।

गुरुकुल (गुरुगृह) परिषद्, सम्मेलन, राजाओ के दरबार तथा अरण्य शिक्षण-संस्थाओं के रूप में थे। शिष्य की प्रधानता थी। वाद-विवाद, प्रश्नोत्तर, कथा-भाषण, अन्योक्ति तथा सूक्ति आदि शिक्षण-प्रणालियो का प्रयोग किया जाता था। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, ज्ञानप्राप्ति की पद्धतियाँ थी। उत्तरवैदिक काल से तकनीकी शिक्षा का आरम्भ हो चुका था।

क्रमशः बृहत् ज्ञानराशि को संक्षिप्त रूप मे समझने के लिए "सूत्र ग्रन्थो" की रचना हुई। सूत्रों द्वारा विभिन्न विषयो की शिक्षा दी जाती थी।

उत्तरवैदिककाल में शिक्षा वर्णानुसार दी जाने लगी। ब्राह्मणो को मुख्य रूप से वेदो के पठन-पाठन की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रियो के लिए "धनुर्वेद" का अध्ययन अनिवार्य था। देश की रक्षा के लिए उन्हे सैनिक शिक्षा मे प्रवीण कराया जाता था। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" मे राजकुमारो की शिक्षा के लिए चार विज्ञानो का उल्लेख मिलता है :—

१— अन्विक्षकी अर्थात् साख्ययोग तथा लोकायत का ज्ञान।
२— वेदों का अध्ययन।
३— वार्ता —इसमें कृषि, पशुपालन तथा व्यापार का ज्ञान कराया जाता था।
४— दण्डनीति—दण्डनीति में शासन, कानून तथा राजनीति का ज्ञान कराया जाता था।

विशेष विद्याओ के लिए विशेष समय भी नियुक्त थे। वैश्यों को कृषि, पशुपालन तथा व्यापार की शिक्षा दी जाती थी। इसके लिए गणित, साधारण भूगोल, कृषि, विज्ञान, अच्छे-बुरे क्षेत्रों का ज्ञान, खेत बोने-काटने के समय का ज्ञान तथा खेत मे प्रयुक्त खाद आदि का ज्ञान दिया जाता था। यह शिक्षा विद्यार्थी प्रधानत. अपने पिता से प्राप्त करता था।

शूद्रो के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था नही थी। देश के आर्थिक विकास के लिए उन्हे विशेषरूप से हस्तकलाओं की शिक्षा दी जाती थी। कताई, बुनाई, वस्त्रों की छपाई का कार्य, अस्त्र-शस्त्र बनाना, औजार बनाना, रथ बनाना आदि की शिक्षा दी जाती थी।

ये विद्याएँ घरेलू रूप से वंशपरम्परा द्वारा ही सीखी जाती थी। इसके अतिरिक्त इन विद्याओ को सिखाने के लिए नारद जैसे शिक्षको का भी उल्लेख मिलता है।

६००–५०० ईसा पूर्व में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। बौद्धकाल मे शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। बौद्धकालीन शिक्षा "निवृत्ति प्रधान" थी। मठ, मन्दिर, गुरुकुल तथा बुद्ध विहार शिक्षण-संस्थाओ के रूप में थे। विद्यार्थी "वुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि तथा संघ शरणं गच्छामि" का उच्चारण करके शिक्षण-संस्थाओ मे प्रवेश करता था। पाठ्यक्रम दो स्तरों मे विभक्त किया गया था – (१) उच्च शिक्षा, (२) प्रारम्भिक शिक्षा। उच्च शिक्षा के अन्तर्गत वेद, आयुर्वेद, दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, काव्य, शब्दविद्या, व्याकरण, ज्योतिष, सामूहिकविद्या, शकुनविद्या, योग, नक्षत्र तथा तन्त्र आदि विद्याओ की शिक्षा दी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत लिखना, पढ़ना, साधारण गणित तथा धार्मिक आचरण आदि की शिक्षा दी जाती थी।

इस काल मे प्रयोगात्मक रूप से प्रशिक्षण आरम्भ हो गया था। लेखनकला का भी पर्याप्त प्रचार हुआ। आचार्य देशाटन द्वारा शिक्षा का प्रसार करते थे। ये आचार्य "चरक" कहलाते थे।

> मुज्युर्लाह्यमानि मद्रदेश में "चरक" बनकर विचरता रहा।
> अथ हैन भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति।
> होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ॥
> (बृहदारण्यक उपनिषद् ३.३.१)

> अध्ययन, अध्यापन तथा तद्विद्यसम्भाषा ज्ञानप्राप्ति के उपाय थे।
> तत्रोपायमनुव्याख्यास्यामः अध्ययनम् अध्यापनम् तद्विद्यसम्भाषा चेत्युपायाः।

शनैः-शनैः बौद्ध काल में मठो तथा गुरुकुलो ने विश्वविद्यालयो का रूप धारण कर लिया था। तक्षशिला तथा नालन्दा प्रसिद्ध शिक्षा के केन्द्र थे। तक्षशिला "चिकित्सा" के प्रशिक्षण के लिए विशेषरूप से प्रसिद्ध था। यहाँ के आचार्य "आत्रेय" आयुर्वेद के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। इसके अतिरिक्त यहाँ वेद अष्टादश विद्याएँ, अट्ठारह प्रकार के शिल्प, ज्योतिष, कृषि आदि अनेक विषयो का विशेष रूप से अध्ययन कराया जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बनारस विद्यालय के विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाते थे। इस विश्वविद्यालय से महान् वैयाकरण पाणिनि, सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक, अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य, मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य आदि विभूतियो ने शिक्षा प्राप्त की थी।

नालन्दा विश्वविद्यालय "बौद्ध संस्कृति" का केन्द्र था। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, शीलभद्र आदि यहाँ के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। सर्वोपरि आचार्य "कुलपति" कहलाता था।

मौर्यकाल में शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हुयी। देशाटन द्वारा शिक्षा का प्रसार तथा प्रचार किया गया। "कनिष्क" के काल में "शिल्पकला" की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला।

गुप्तकाल में विज्ञान, साहित्य तथा व्यापार तथा कलाकौशल आदि सभी क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति हुयी। गुप्तकाल में तकनीकी शिक्षा को विशेषरूप से प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति करने के कारण गुप्तकाल को "स्वर्णयुग" कहा जाता था।

प्राचीन भारत में आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) का पर्याप्त विकास हुआ। "अथर्ववेद" चिकित्साशास्त्र का भारत का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमें बहुत-सी जड़ी-बूटियों का विभिन्न प्रकार के रोग-निवारण के लिए उल्लेख है। विषकोढ़, सर्पदंश, ज्वर, पाण्डु, सन्निपात, रक्तविकार आदि भयंकर रोगों की चिकित्सा के लिए जड़ी-बूटियो के प्रयोग किये जाने का उल्लेख है। अथर्ववेद को "तांत्रिक ग्रन्थ" भी कहा गया है क्योंकि इसमें उन मन्त्रो का सन्निवेश है जिनके द्वारा पुरोहित शत्रु, हिंसक पशु, भयंकर रोग तथा प्राकृतिक उत्पातों के विरुद्ध उनके विनाश के लिए आह्वान करते थे।

> आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग वेद है। आयुर्वेद को "अष्टाग वेद" भी कहा गया है।
> "तस्यायुर्वेदस्यागन्यष्टौ तद्यथा, कायचिकित्सा, शालाय, शल्यापहर्तृक
> विषगदवैरोधिक प्रशमन, भूतविद्या कौमारभृत्यकं रसायन वाजीकरणमिति।"

अर्थात् "आयुर्वेद में कायचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद रसायन तथा वाजीकरण विद्या का उल्लेख है।

उत्तरवैदिककाल मे आयुर्वेदीय शिक्षा का विकास हुआ। शिक्षक के द्वारा आयुर्वेदीय ग्रन्थों के पदों तथा श्लोको का धीरे-धीरे पाठ कराया जाता था।

> पदंपादं श्लोकं वा ते च पदपाद श्लोका भूय
> क्रमेणनुसंधेया ...... स्वेरे पठेत। (सुश्रुत संहिता ३.५४)

आयुर्वेद के विभिन्न विभागों का पृथक-पृथक अध्ययन कराया जाता था। एक विभाग के विद्यार्थी परामर्श तथा व्यावहारिक ज्ञान से शिक्षा प्राप्त करते थे। एक चिकित्सक के लिए "बहुश्रोता" होना आवश्यक था अर्थात् जब तक उसे अनेक विद्वानो से ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता था तब तक उसे सफलता नही मिलती थी।

> "एकं शास्त्रंमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
> तस्मादबहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः॥
> (सुश्रुत संहिता ४, ६-७)

विद्यार्थी को चिकित्सा सम्बन्धी दस कलाओं की शिक्षा दी जाती थी, जैसे पुष्प के रस और दूसरे विषैले द्रव्यों का बनाना, शल्य चिकित्सा, भोजन बनाना, फलों का उपयोग, धातु विज्ञान, शक्कर बनाना, औषधियाँ बनाना, मेटाबालिक (उपापचर्या), कम्पाउण्ड्स (यौगिकों) का पृथक्कीकरण, धातुओं से संयुक्त मिश्रण बनाना, क्षारीय पदार्थों को तैयार करना ।

शास्त्र तथा प्रयोग दोनो का ज्ञान अनिवार्य था । आरम्भ करने वाले विद्यार्थी को सर्वप्रथम औजारो को पकडना और उनका प्रयोग बताया जाता था । जिनका प्रयोग विद्यार्थी खीरा, तरबूज तथा खरबूजे पर शिक्षक के निरीक्षण मे करते थे । छेदन कार्य, मृतक पशुओ की शिराओ पर करके दिखाया जाता था । छुरी पकड़ना–अलाबू के फलो पर, चर्म छीलन खाल के तालदार सूखे टुकड़ों पर, पट्टी बाँधना–भूसा भरी मनुष्य की आकृतियो पर, तथा जलाने वाले रसायन-प्रयोग माँस के कोमल टुकड़ो पर सिखाया जाता था। घाव मे से छुरी खीचना, घाव साफ करना तथा शरीर के रुग्ण भाग को चाकू द्वारा छेदने अथवा काटने की भी शिक्षा दी जाती थी । मृतक मानव-शरीरो को चीरफाड़ करके देखा जाता था । केवल पुस्तक के द्वारा शल्य-शास्त्र का ज्ञान पर्याप्त नही था । (सुश्रुत संहिता १ ३-६) बौद्धकाल मे जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य ने तक्षशिला मे चिकित्साशिक्षा की प्राप्ति की । तक्षशिला विश्वविद्यालय चिकित्साज्ञान के लिए विशेषरूप से प्रसिद्ध था ।

उत्तरोत्तर चिकित्साशिक्षा मे प्रगति होती गयी । व्यक्तिगतरूप से शिक्षा दी जाने लगी । चिकित्सासम्बद्ध विषय पर विचार करने के लिए गोष्ठियाँ तथा सम्मेलन होने लगे । आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे "चरक-संहिता" तथा "सुश्रुत संहिता" सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ थे । प्राचीन भारत के धन्वन्तरी, भारद्वाज, आत्रेय, जीवक, पतजलि, चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट आदि चिकित्साशास्त्री थे ।

इस प्रकार आयुर्वेदीय शिक्षा के द्वारा वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान, रसायन विज्ञान, जन्तु विज्ञान, शल्य विज्ञान तथा फार्मेसी की शिक्षा दी जाती थी ।

प्राचीन भारत में पशु चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है । "सालिहोत्र" प्रसिद्ध पशु चिकित्सक थे । अश्व रोगो की चिकित्सा मे पाण्डव-बन्धु नकुल तथा सहदेव भी दक्ष माने जाते थे । प्राचीन भारत मे पशु-चिकित्सा के प्रशिक्षण के लिए नियमित विद्यालयो का उल्लेख नही मिलता है । सम्भवत. विद्यार्थी परम्परागत ज्ञान को निपुण व्यक्तियो की शिष्यता स्वीकार करके प्राप्त करते रहे होगे ।

उत्तरवैदिककाल से "सैनिक शिक्षा" के प्रशिक्षण के भी संकेत मिलते हैं । "धनुर्वेद", "सैन्य शिक्षा" का प्रसिद्ध ग्रन्थ है । "धनुर्वेद" मे उल्लेख है कि विद्यार्थी का उपनयन सस्कार किया जाता था । उसे एक अस्त्र देकर वेदमत्र का उच्चारण कराया जाता था । सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण विशेषरूप से क्षत्रियो को दिया जाता था ।

ततो द्रोण: पाण्डुपुत्रां मन्त्राणि विविधानि च ।
द्रोण संकीर्ण युध्ये च शिक्षयाम स कौरवान ॥
(महाभारत आ०प० ११८)

शूद्रो को सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था । महाभारत मे उल्लेख है कि प्रसिद्ध-सैनिक शिक्षक द्रोणाचार्य ने शूद्र बालक एकलव्य को सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण देने के लिए अस्वीकार कर दिया था।

रामायण में दशरथ के पुत्रो को विद्यार्थी-काल से ही सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है :

"पिता दशरथो दृष्टो ब्रह्मा लोकाधियो यथा
ते चापि मनुज व्याघ्रा वैदिकाध्ययने रत:
पितृ शुश्रवणरता धनुर्वेद च निष्ठिता: ॥
(रामायण बालकाण्ड अ० १८)

सैनिक शिक्षा न केवल राज्य द्वारा ही दी जाती थी अपितु व्यक्तिगत रूप से भी दी जाती थी । प्राय: प्रत्येक गाँव में शिक्षण-शिविर होते थे जहाँ ग्रामवासियों को आत्म-रक्षा के लिए शिक्षित किया जाता था । इसके अतिरिक्त सैन्य शिक्षा के प्रशिक्षण के लिए नियमित केन्द्र भी थे । तक्षशिला ऐसा नगर था जहाँ भिन्न-भिन्न भागो से एकत्रित होकर विद्यार्थी सैन्य शिक्षा प्राप्त करते थे ।

उन्हे उस समय युद्ध मे प्रयुक्त होने वाले धनुष-बाण, तलवार, गदा, भाला तथा ढाल आदि विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगो को सिखलाया जाता था । रथ-युद्ध, गज-युद्ध, अश्व-युद्ध आदि के विभिन्न तरीको को बतलाया जाता था ।

बौद्धकाल में अहिंसा धर्म अनुयायियों के कारण सैनिक शिक्षा के प्रशिक्षण में कोई प्रगति नहीं हुयी ।

गुप्तकाल मे सैनिक शिक्षा के प्रशिक्षण को पुन: प्रोत्साहन मिला । अधिक संख्या मे विद्यार्थी सैनिक-शिक्षा का प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे ।

ऋग्वैदिक काल से ही ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान की शिक्षा के संकेत मिलते हैं । यद्यपि ऋग्वेद में ज्योतिष सम्बन्धी संकेत अनिश्चित से हैं किन्तु उसमें भी वर्ष के बारह महीने तथा मास के तीस दिनो का वर्णन मिलता है ।

वैदिक यज्ञो की विधियाँ सम्पन्न करने के लिए ऋतु, अयन, दिनमान, लग्न आदि के शुभाशुभ के लिए उत्तरवैदिककाल मे ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य समझा जाने लगा ।

ज्योतिष का ज्ञान गुरु, शिष्य तथा प्रशिष्यों की परम्परा से दिया गया। विद्यार्थी को सर्वप्रथम दिन, रात, पक्ष, मास तथा वर्ष का ज्ञान कराया जाता एवं फिर धीरे-धीरे ग्रह, नक्षत्र तथा ऋतुओं के विषय में शिक्षा दी जाती थी।

वेदांग साहित्य में सर्वप्रथम "लगध" कृत "वेदांग ज्योतिष" नामक कृति उपलब्ध है। वेदांग साहित्य के दो पाठ उपलब्ध हैं— ऋग्वेद ज्योतिष तथा यजुर्वेद ज्योतिष। उत्तरवैदिककाल में ज्योतिष की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक विधियों को समझने के लिए ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था।

बौद्ध काल में ज्योतिष शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि "बौद्ध धर्म फलित ज्योतिष को तथा अंशतः गणित ज्योतिष को बहुत हीन दृष्टि से देखता था।" दीर्घ निकाय १.६८

जब बौद्ध काल का ह्रास होने लगा, गुप्तकाल मे हिन्दू धर्म का उत्थान हुआ तथा यवनों के ज्योतिष का भी भारतवर्ष मे आगमन हुआ तब भारतीय ज्योतिष के अध्ययन–अध्यापन को प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप विक्रम की छठी शताब्दी में इस विज्ञान के अनेक विद्वान उत्पन्न हुए।

ज्योतिविद् "आर्यभट्ट" सर्वप्रथम आचार्य थे जिनके "आर्यभट्टीय" ग्रन्थ के चार भाग हैं—गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलापाद।

कालक्रिया तथा गोलापाद में ज्योतिष सम्बन्धी विषयों पर विचार किया गया है। गुप्तकाल मे ज्योतिष की शिक्षा मे पर्याप्त विकास हुआ। इस काल मे अनेक ज्योतिष यंत्र जैसे शकु (पृथ्वी नापने के लिए), छेदक यंत्र, उन्नतांश मापक तथा जल-घड़ी (समय मापने के लिए) आदि का उल्लेख मिलता है। गुरु, स्थिर बुद्धि वाले शिष्यों को इन यंत्रो का प्रयोग करना सिखलाते थे। शिष्य, प्रयोग करने के तरीकों को सीखकर इन यंत्रो को बनाते भी थे।

उस समय आर्यभट्ट कृत "दशगीतिका", वराहमिहिर कृत "बृहत्संहिता" तथा "पंचसिद्धान्तिका" तथा ब्रह्मगुप्त कृत "ब्रह्मसिद्धान्त" ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ थे।

ऋग्वैदिककाल से ही गणित सम्बन्धी शिक्षा के स्रोत मिलते हैं। उस समय लोगो को छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी संख्या गिनने की विधि बतायी जाती थी। जोड़, घटाना, गुणा, भाग आदि अंकगणित के मौलिक तत्वों का ज्ञान कराया जाता था।

शूल्वसूत्रों द्वारा रेखागणित की शिक्षा दी जाती थी। शूल्व सूत्र भारतीय रेखा-गणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ है। इन सूत्रों के द्वारा वर्ग, त्रिकोण, वृत्त तथा विभिन्न कोणों को बनाना सिखाया जाता था। यज्ञ की वेदी तथा उनकी ईंटों को नापने की रीति समझायी जाती थी।

चतुर्भुज के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, दो वर्गों के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, आयत से समचतुर्भुज बनाने की विधि तथा वर्ग से वृत्त बनाने की विधि समझायी जाती थी।

ज्यामितीय सिद्धान्त, जैसे एक सरल रेखा को कितने समान भागो मे विभाजित किया जा सकता है, आदि का ज्ञान कराया जाता था। विकर्ण से वर्ग बनाने की विधि का भी ज्ञान कराया जाता था। इस प्रकार उत्तरवैदिककाल से रेखागणित की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ।

बौद्धकाल में गणित की शिक्षा मे कोई विशेष प्रगति नही हुयी। पुन: गुप्तकाल मे गणितशिक्षा को बल मिला। आर्यभट्ट प्रथम आचार्य हुए जिन्होने अपने "ज्योतिष सिद्धान्त" ग्रन्थ में अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित के कठिन प्रश्नो को तीस श्लोकों में लिखा। इन श्लोकों के द्वारा वर्ग का क्षेत्रफल निकालने की विधि, घनफल, वर्गमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने की विधि, शकु का घनफल एव सब प्रकार के क्षेत्रो की लम्बाई और चौडाई जानकर क्षेत्रफल ज्ञात करने की विधि बतायी जाती थी। इस प्रकार गुप्तकाल मे गणित की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ।

वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर तथा पद्मगुप्त प्रसिद्ध प्राचीनतम गणितज्ञ थे।

प्राचीन दर्शन ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञान होता है कि दार्शनिक तत्वो की भूमिका में भौतिक शास्त्र सम्बन्धी तत्व भी निहित थे। दर्शन ग्रन्थो के द्वारा विद्यार्थी को एकत्व का सिद्धान्त, त्रिगुणात्मक प्रकृति, परमाणुवाद तथा गतिशीलता, प्रकाश तथा उसके विश्लेषण का ज्ञान कराया जाता था। कणाद, कपिल, प्रशस्तपाद तथा गौतम प्राचीनकाल के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे।

ऋग्वैदिककाल से ही हस्तकलाओं के भी संकेत मिलते हैं। कातना, बुनना, नौका निर्माण, गृह निर्माण, वस्त्र बुनना, चर्मकार्य, स्वर्णकार्य, काष्ठकार्य, रथ निर्माण, सीना, धोना, हल चलाना आदि अनेक शिल्पकलाएँ ऐसी थी जिनके द्वारा मनुष्य अपना जीवन यापन करता था। ऋग्वैदिककाल मे शिल्पकलाओ के शिक्षण के लिए नियमित तथा सुसंगठित विद्यालय नही थे। विद्यार्थी इस उद्यम को करने वाले व्यक्ति के पास जाकर बहुत दिनो तक उसकी शिष्यता स्वीकार करता था। इस प्रकार वह व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करके कुशलता प्राप्त कर लेता था। क्रमश यह हस्तकलाएँ जातिगत हो गयी जो पिता से पुत्र को दी जाने लगी।

उत्तरवैदिककाल में वर्णानुसार शिक्षा की व्यवस्था हुयी। इसके अनुसार मुख्यरूप से शूद्र वर्ण को कताई-बुनाई, अस्त्र-शस्त्र बनाना, वस्त्रो की छपाई-रगाई, रथ-निर्माण आदि की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त बालक को अभिभावको की अनुमति से हस्त-कलाओ को स्वय चुनने की भी स्वतन्त्रता थी। कारीगरो के कार्यालय मे, उनके सरक्षण में

विभिन्न हस्तकलाओं की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से भी "श्रेणी संस्थाओं" द्वारा कलाएँ सिखायी जाती थीं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों की भिन्न श्रेणियाँ थीं।

एकेनशिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहाश्रेणी।

(पाणिनि १३)

स्मृतियों में कृषक श्रेणी, ग्वाल श्रेणी, चित्रकार श्रेणी आदि का उल्लेख मिलता है। यह कला तथा कारीगरी के विद्यालय थे जहाँ विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा दी जाती थी।

बौद्धकाल मे औद्योगिक तथा व्यवसायिक शिक्षा के क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुयी। कताई, बुनाई, सिलाई आदि के प्रशिक्षण की व्यवस्था मठो के भिक्षुओ के लिए भी थी। तक्षशिला में १८ प्रकार के शिल्प जैसे आयुर्वेद, शल्य क्रिया, कृषि, रथ-सचालन, नाग-वशीकरण आदि की शिक्षा दी जाती थी।

मौर्यकाल में हस्तकलाओं की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में उल्लेख है कि इस काल मे समस्त कलाओं और हस्तकलाओं का केन्द्रीय नियंत्रण था। विभिन्न व्यवसायो के अध्यक्षों द्वारा विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा दी जाती थी तथा धातुओ का ज्ञान कराया जाता था। कर्मशालाओं में विद्यार्थी को यन्त्र बनाने का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। गुप्तकाल में इन हस्तकलाओं की शिक्षा मे विशेष प्रगति हुयी और ये हस्तकलायें अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी।

प्राचीन भारत में वास्तुनिर्माण, स्थापत्य, शिल्पकारी तथा चित्रकला का भी विकास हुआ। हड़प्पा सभ्यता की खुदाई से प्राप्त भवन, बड़े-बड़े स्नानागार, कमरे आदि के भग्नावशेष से तत्कालीन वास्तुनिर्माण कला के विकास का पता चलता है। इन कलाओ की शिक्षा भी परम्परागत, वर्णानुसार, कार्यालय-कारखानों, श्रेणी संस्थाओं, नियमित केन्द्रो (तक्षशिला) तथा व्यवसाय अध्यक्षों द्वारा दी जाती थी।

बौद्धकाल से उत्तरोत्तर वास्तुनिर्माण कला की शिक्षा में प्रगति होती गयी। नालन्दा, विक्रमशिला के विश्वविद्यालय, स्तूप, बौद्ध भिक्षुओ के भवन, बुद्ध विहार, चैत्य, अशोक स्तम्भ, मेहरौली का लौहस्तम्भ, भवन निर्माण कला तथा गुप्तकाल के मन्दिर (ललितपुर जिले मे देवगढ़ का दशावतार मन्दिर आदि) वास्तुनिर्माण कला के उत्कृष्ट ज्ञान के बोधक हैं। मौर्यकाल से स्थापत्य तथा चित्रकारी की कला के विकास का स्पष्ट पता चलता है। उससे पूर्व इन कलाओं के संकेत अवश्य मिलते हैं। अशोक स्तम्भ के ऊपर बने सिंहो की मूर्तियाँ (जो अब सारनाथ के संग्रहालय में हैं) बौद्ध स्तूपों की पथरीली चहारदीवारी तथा उदयगिरि की गुफाओ में की गयी चित्रकारी आदि स्थापत्य कला तथा चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

उपरोक्त विवरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत प्राविधिक ज्ञान की बहुमूल्य निधि है। प्राविधिक शिक्षा के विकास के लिए प्राचीन भारत के साहित्य का वृहत् अध्ययन तथा विभिन्न विषयों मे शोधकार्य बहुत आवश्यक है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हिन्दू धर्म सुधारकों ने भारत में गुरुकुल प्रणाली तथा ब्रह्मचर्य के पुनर्जागरण के लिए बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में गुरुकु ों की स्थापना की थी। जैसे गुरुकुल काँगड़ी (हरिद्वार) तथा वृन्दावन गुरुकुल।

—फिरोज् गांधी महाविद्यालय
रायबरेली-२२९००१ (उ०प्र०)

प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा-संकाय और शिक्षा के विषय

—डा० कृष्णकुमार
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष,
गढ़वाल विश्वविद्यालय

प्राचीन भारत मे शिक्षणालयो मे विविध भौतिक और आध्यात्मिक विषयो की शिक्षा दी जाती थी। इस अध्ययन के लिए शिक्षणालयो में विषयो का वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग के लिए एक-एक शिक्षा का संस्थान होता था। इनको "स्थान" कहा गया था। स्थान को "पीठ" भी कहते थे तथा इनका अध्यक्ष पीठिन् कहलाता था। पीठिन् की नियुक्ति बहुत सावधानी से की जाती थी तथा ये विविध विद्याओ के प्रसिद्ध विद्वान होते थे। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि इन पीठो को आधुनिक परिभाषा मे सकाय (फैकल्टी) कहा जा सकता है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि मुख्यरूप से आठ संकाय सगठित किये गये थे—अवनिस्थान, ब्रह्मस्थान, विष्णुस्थान, महेन्द्रस्थान, वैवस्वतस्थान, सोमस्थान, गरुड़स्थान और कार्तिकेयस्थान। इनका सक्षिप्त रूप इस प्रकार है :

१. **अवनिस्थान**—यह शिक्षणालयो का केन्द्रीय स्थान था, जहाँ कि यज्ञीय अग्नि की स्थापना की जाती थी। अग्निहोत्र यज्ञ, उपासनादि इसी स्थान पर सम्पन्न होते थे।

२. **ब्रह्मस्थान**—यह वैदिक साहित्य के अध्ययन का केन्द्र था। आध्यात्म विद्या, ब्रह्मविद्या, दर्शन आदि विषयो की शिक्षा इस सकाय मे दी जाती थी।

३. **विष्णुस्थान**—यह मुख्यरूप से नीतिविषयक अध्ययन का केन्द्र था और आर्थिक विषयों की शिक्षा यहाँ दी जाती थी। राजनीति, दण्डनीति, अर्थनीति और वार्ता (कृषि, पशुपालन और उद्योग-व्यापार) की शिक्षा यहाँ होती थी।

४. **महेन्द्रस्थान**—यहाँ सैनिक शिक्षा का पीठ था। विविध प्रकार के आयुधो के सञ्चालन, वाहनो पर सवारी, आक्रमण-सुरक्षा आदि विषयो की शिक्षा इस निकाय मे होती थी।

५. **वैवस्वतस्थान**—इस संकाय मे ज्योतिष का अध्यापन होता था। गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, नक्षत्रों की गणना, समय का विभाजन, दूरी का विभाजन आदि विषय यहाँ पढ़ाये जाते थे। इस स्थान मे गणित का भी अध्यापन होता था।

६. **सोमस्थान**—इस संकाय में वनस्पति विज्ञान की शिक्षा होती थी। वनस्पतियों के गुण-दोष, उनकी वृद्धि के उपाय, सुरक्षा आदि विषय इसमें पढ़ाये जाते थे। इसी स्थान में आयुर्वेद के विभिन्न विषयो की शिक्षा की व्यवस्था थी।

७. **गरुड़स्थान**—इस सकाय मे विभिन्न वाहनो और परिवहन की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त वास्तुविद्या और यंत्रविज्ञान का अध्ययन यहाँ कराया जाता था।

८. **कार्तिकेयस्थान**—सैनिक संगठन की शिक्षा का यहाँ विशेष प्रबन्ध होता था। इस संकाय मे सेना का नेतृत्व करने वाले सैनिक अधिकारियो का प्रशिक्षण होता था।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि प्राचीन आर्ययुग मे शिक्षणालयो में विविध विषयो की शिक्षा का संगठन वैज्ञानिक आधार पर तर्कसंगत रूप से हुआ था। वर्तमान विश्व-विद्यालयो मे विभिन्न सकायो (फैकल्टीज) की पद्धति यद्यपि योरोपियन शिक्षण प्रणाली से ली गयी है तथापि उसका मूलाधार भारतीय ही है। यह बहुत सम्भव है कि योरोपीय शिक्षाविदों ने जिस पद्धति को भारत से ग्रहण किया था, वह पुनः परिष्कृत होकर भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रचलित हुई।

वर्तमान शिक्षाप्रणाली में अनेक विषयों का अध्ययन कराया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में हमे यह भी जानना चाहिए कि प्राचीनकाल में अध्ययन के कौन-से मुख्य विषय थे जिससे कि उनकी उपयोगिता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी आँकी जा सकी। यहाँ उन प्रमुख विषयो का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :

१. **वैदिक साहित्य**—प्राचीन समय मे शिक्षा का सबसे प्रमुख विषय वैदिक साहित्य था। वेदों को सब सत्य विद्याओं का मूल माना गया था। इसके अन्तर्गत वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का अध्ययन होता था। वैदिक साहित्य के विशेषज्ञ ही धर्मनिर्णय के लिए अन्तिम प्रमाण माने गये थे।

२. **वेदाङ्ग**—वेदाङ्ग साहित्य को वैदिक साहित्य के अध्ययन करने और अर्थों को समझने के लिए सहायक माना गया था (वेदा अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिः इति वेदाङ्गानि) वेदाङ्ग छह हैं– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

३. **व्याकरण**—वेदाङ्गों मे व्याकरण को प्रमुख माना गया है जो कि शिक्षा का अनिवार्य अंग था। विषयों का लेखन भाषा में किया जाता है और भाषा का ज्ञान व्याकरण से होता है। वैदिक युग में प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों मे व्याकरण आदि का ज्ञान होता था किन्तु उत्तरकाल में पाणिनि व्याकरण ने प्राचीन व्याकरणों को आत्मसात कर लिया। ईसा की तीसरी शताब्दी में कातन्त्र व्याकरण की भी रचना हुई, जो बौद्धों मे अधिक लोकप्रिय रही।

४. छन्द—छन्द दो प्रकार के रहे। लौकिक और वैदिक। छन्दों के ज्ञान के बिना वैदिक अर्थबोध पूर्णरूप से नहीं होता। लौकिक छन्दों का आरम्भ वाल्मीकि से माना जाता है।

५. ज्योतिष—वेदाङ्गों मे ज्योतिष बहुत महत्त्वपूर्ण है जो उत्तरवर्ती युग में एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में विकसित हुआ। ज्योतिष के ६४ अंग विकसित हुए। इस विज्ञान मे नक्षत्रों की गतियाँ, ग्रहण, समय का विभाजन, पक्ष, तिथियाँ, वार, ऋतुएँ, वर्ष आदि का विभाजन-अध्ययन किया गया। दिन–रात का विभाजन, प्रहर आदि भी वैज्ञानिक आधार पर विभाजित किये गये। दिशाओ और दूरी का विभाजन भी इस विज्ञान मे पढ़ाया जाता था।

६. गणित—प्राचीन भारत मे शिक्षा के विषयों में गणित का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित का अध्ययन होता था। शून्य की संख्या के आविष्कार ने गणित को नई दिशा दी थी। भारतीय गणित को आज भी विश्व मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

७. आयुर्वेद—भारतीय शिक्षा पद्धति में आयुर्वेद का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी गणना १८ विद्याओं में की गयी थी। यह चार उपवेदो मे एक उपवेद है। तीन उपस्तम्भ, सात धातु और तीन दोष के आधार पर विकसित आयुर्वेद आठ प्रमुख अंगो मे विभक्त किया गया था। शल्य, शालाक्य, काय चिकित्सा, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण इन सभी विषयो का उच्चकोटि का अध्ययन विश्वविद्यालयो मे होता था।

८. धातुविज्ञान—प्राचीन समय मे धातुओ से आर्य भली-भाँति परिचित थे और धातुओ की विद्या पढाई जाती थी। धातुओ को अत्यधिक शुद्धरूप मे प्राप्त करके उनसे विविध सामग्रियाँ बनती थी। दो या अधिक धातुओ को मिलाकर मिश्र धातु बनती थी।

९. रसायनविज्ञान—रसायनविज्ञान या केमेस्ट्री प्राचीनकाल के अध्ययन का प्रमुख विषय था जिसके द्वारा विविध पदार्थ बनाये जाते थे। इसके माध्यम से वैज्ञानिकों ने एक धातु को दूसरी धातु में परिवर्तित करने की योग्यता प्राप्त कर ली थी।

१०. धनुर्वेद—धनुर्वेद की शिक्षा क्षत्रियो के लिए अनिवार्य विषय था। धनुर्वेद सैनिक शिक्षा का विषय था जिसमें विविध आयुधो के निर्माण, सञ्चालन और सैन्य संगठन की शिक्षा दी जाती थी।

११. पशुविज्ञान—भारतीय अर्थव्यवस्था में पशुपालन का विशेष महत्त्व होने

से पशुओं के स्वरूप, गुण-दोष शिक्षा, चिकित्सा आदि का ज्ञान छात्रों को कराया जाता था।

१२. **वनस्पतिविज्ञान**—वनस्पति ही मानव-जीवन के लिए प्राण हैं। अतः इनका अध्ययन अनिवार्य था। इस विज्ञान को वृक्षायुर्वेद भी कहा गया था। इसी के अन्तर्गत कृषि भी थी।

प्राचीन भारतीय मनीषि वनस्पतियों के शैशव, यौवन, वार्धक्य, शयन, जागरण, विकास, कष्ट, रोग, पोषण आदि से परिचित थे। कृत्रिम उपायों से भी वनस्पतियों की वृद्धि की शिक्षा दी जाती थी।

१३. **यन्त्रविज्ञान**—प्राचीन भारतीय शिक्षणालयों मे यन्त्रों की शिक्षा विकसित रूप मे थी। प्राचीन ग्रन्थो में विविध यन्त्रों के संचालन का उल्लेख मिलता है। "समराङ्गणसूत्रधार" में बहुत से यन्त्रों का उल्लेख है परन्तु इनके निर्माण का विस्तृत वर्णन नहीं है। इसको गुप्त रखने का विधान है और इसे गुरुमुख से ही सीखा जा सकता है।

१४. **विमानविज्ञान** - प्राचीन शिक्षणालयों में विमानों के विज्ञान की शिक्षा निश्चित रूप से सिखायी जाती थी यद्यपि यह लगभग लुप्त हो चुकी है। भारद्वाज के यन्त्र-सर्वस्व का एक खण्ड विमान-विज्ञान प्राप्त हुआ है।

१५. **मनोविज्ञान**—मनोविज्ञान का अध्ययन निश्चित रूप से प्राचीन शिक्षणा-लयो मे था। स्वतन्त्ररूप से इस विषय के ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी प्राचीन समय मे इसका अध्ययन अवश्य कराया जाता था।

१६. **स्वप्नविज्ञान** - स्वप्नविज्ञान मुख्यतः फलित ज्योतिष का विषय है जिसमें स्वप्नो के आधार पर शुभाशुभ का निर्धारण किया जाता था।

१७. **कलायें**—प्राचीन समय में कलाओं के अध्ययन विशेषरूप से कराये जाते थे। यद्यपि इन कलाओ के अन्तर्गत अनेक अन्य वैज्ञानिक विषय जैसे कि धातु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, चिकित्सा, परिवहन, पशुपालन आदि सम्मिलित हैं तथापि ६४ कलाओं की शिक्षा स्वय में महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश मनीषियो ने ६४ कलाओ की गणना की है तथापि 'ललित विस्तर' में ८६ कलाओ की गणना है। इन कलाओ के नाम विस्तार के भय से यहाँ नही दिये जा रहे हैं।

१८. **दर्शन**—अध्ययन के विषयों मे दर्शन एक महत्त्वपूर्ण विषय था। छह आर्षदर्शन, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा, शैव, व्याकरण आदि दर्शन का भी उल्लेख मिलता है। कुछ ऐसे भी दर्शन विकसित हुए जो अनार्ष कहे जाते तथा वेदों को प्रमाण नही मानते, जैसे कि बौद्ध, जैन

और चार्वाक।

१९. धर्मशास्त्र—सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं के प्रमाण के रूप में धर्मशास्त्र प्रमुख विषय था। इसके अन्तर्गत मुख्यरूप से सूत्र और स्मृतिग्रन्थो की गणना की जाती है। अनेक सूत्रग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो तीन वर्गों मे विभक्त हैं-कल्पसूत्र, धर्मसूत्र और श्रौतसूत्र। विभिन्न ऋषियो ने धर्म और लोक व्यवहार के लिए स्मृतियो की रचना की थी। इनमें मनु और याज्ञवल्क्य सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

२०. दण्डनीति—दण्डनीति अर्थात् राजशास्त्र का अध्ययन शिक्षणालयो मे विशेष था। जिसमे कि राजनीति को सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक रूप से पढाया जाता था। बृहस्पति, उष्णस्, चाणक्य, कामन्दक आदि ऋषि दण्डनीति के प्रमुख आचार्य हुए।

२१. त्रयीविद्या—प्राचीन शिक्षापद्धति में त्रयीविद्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अन्तर्गत आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति आती है। दण्डनीति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आन्विक्षिकी के अन्तर्गत धार्मिक और दार्शनिक विषयो की शिक्षा दी जाती थी और वार्ता मे कृषि, उद्योग, पशुपालन और वाणिज्य की शिक्षा थी जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन तीनो विद्याओ के विद्वान को त्रैविद्यवृद्ध कहा गया था जिसका कि समाज मे बहुत अधिक सम्मान था।

२२. इतिहासपुराण—इतिहास और पुराण शिक्षा के महत्त्वपूर्ण विषय रहे। इतिहास के अन्तर्गत मुख्यरूप से रामायण और महाभारत की शिक्षा दी जाती थी। पुराणो मे १८ महापुराण, १८ उपपुराण रहे। इतिहास का अर्थ है-"पुरावृत्त" जिसमे प्राचीन घटनाओ का अध्ययन कराया जाता था।

२३ काव्यशिक्षा और काव्यशास्त्र—समाज में कवियों का बहुत सम्मान था अत: काव्य की रचना का विषय एक महत्त्वपूर्ण विषय हो गया था। शिक्षार्थी गुरु के पास जाकर काव्यज्ञ शिक्षको से यह शिक्षा प्राप्त करता था। काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, लघु-काव्य, गद्यकाव्य, चम्पू, नाटक, आख्यान आदि रहे।

काव्य की रचना अनियन्त्रित न हो इसके लिए काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र का विकास हुआ। नाटको के लिए नाट्यशास्त्र की रचना भरतमुनि ने की थी। इन शास्त्रीय ग्रन्थो की रचना ने एक ओर तो कवियों को काव्यरचना मे सुव्यवस्थित किया और दूसरी ओर काव्यो के गुणदोष की समालोचना के सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये।

अभिनय नाट्यशास्त्र का प्रमुख विषय रहा। भरत ने नाट्य में नित्य गीतवाद्य को भी अभिनय के साथ महत्त्व दिया।

इन सब विषयों की शिक्षा शिक्षणालयो में दी जाती थी।

२४. भाषाएँ—प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओ का अध्ययन शिक्षणालयो मे कराया जाता था। भारतवर्ष में ही अनेक भाषाएँ प्रचलित थी। संस्कृत के अतिरिक्त विभिन्न प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा का प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त अन्य देशों

की भी भाषाएँ निश्चित रूप से शिक्षणालयों में सिखायी जाती थी। भारतीयों के विदेशों से सम्बन्ध प्राचीनकाल मे व्यापक थे। अतः विभिन्न देशों की भाषाएँ सीखना आवश्यक था। साहित्य मे अनेक भाषाविदो का उल्लेख मिलता है।

ऊपर के विवरणो मे यह स्पष्ट सिद्ध है कि प्राचीनकाल के भारतीय शिक्षणालयों मे जीवनोपयोगी तथा व्यवहार मे आने वाले सभी विषय पढाये जाते थे। वर्तमान समय मे विश्वविद्यालयो में जितने भी विषय पढाये जाते हैं प्रायः उन सभी का समावेश इनमें हो जाता है और ये सब विषय व्यक्ति के व्यक्तित्व को समुन्नत करने, समाज का कल्याण करने और देश को प्रगति के मार्ग पर ले जाने के लिए अनिवार्य हैं। यह भी स्पष्ट है कि इन विषयों का अध्ययन इस प्रकार से कराया जाता था कि वह लोक के लिए कल्याणकारी हों। इसलिए यह आवश्यक है कि वर्त्तमान शिक्षा को नवीन पद्धतियों के अनुसार ग्रहण करते हुए भी हम प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था-सगठन के आधार पर इसे संगठित करें तो यह बहुत उपयोगी हो सकती है।

संदर्भ पुस्तिकाएँ—

१- कठोपनिषद्
२- छान्दोग्यपनिषद्
३- याज्ञवल्क्यस्मृति
४- गरुड पुराण
५- वायु पुराण
६- विष्णु पुराण
७- Ancient Indian Education —Mukherjee.
८- The Age of imperiar unity.
९- मनुस्मृति
१०- वैदिक साहित्य का इतिहास
११- निरुक्त
१२- तन्त्रवार्तिक
१३- ईशावास्योपनिषद्
१४- अष्टाध्यायी
१५- महाभाष्य
१६- A History of Sanskrit Literature—Keith
१७- गर्गसंहिता
१८- चरकसहिता
१९- सुश्रुतसहिता
२०- अर्थशास्त्र चाणक्य
२१- कामशास्त्र वात्स्यायन
२२- कामन्दक नीतिसार
२३- शुक्र नीति
२४- Mills History of India
२५- समरागण सूत्रधार
२६- विमान शास्त्र
२७- रामायण
२८- महाभारत
२९- भागवतपुराण
३०- ललितबिस्तर
३१- सस्कृत डिक्शनरी –आप्टे
३२- धर्मशास्त्र का इतिहास
३३- ऋग्वेद
३४- History of Sanskrit Literature
३५- मुद्राराक्षस
३६- बालरामायण
३७- तापसवत्सराज
३८- ध्वन्यालोक
३९- उत्तररामचरित
४०- मालतीमाधव

प्राचीन भारतीय सैन्य-शिक्षा

—डा० रामसिंह
एवं
डा० नरसिंह नारायणसिंह
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–२२१ ००५

मनुष्य जब से इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ है, तब से ही उसे भोजन के आविष्कार एवं स्व-रक्षा हेतु वन्य जीव-जन्तुओं एवं मनुष्यों से युद्ध करना पड़ा है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक अनेक सभ्यताओं का अभ्युदय एवं विनाश हुआ, किन्तु युद्ध कभी भी समाप्त न हो सका। ज्यों-ज्यों सभ्यता पल्लवित एवं पुष्पित होती गयी, त्यों-त्यों मनुष्य को अपनी जाति, ग्राम, समुदाय, राज्य एवं राष्ट्र की सुरक्षा हेतु युद्ध करना पड़ा। साथ ही साथ प्राचीनकाल से ही मनुष्य अस्त्र–शस्त्रों एवं सेनाओं के प्रयोग की कला में विकास करता रहा है और उसे इस कला में पारंगत होने के लिए विभिन्न कालों में विभिन्न रूप में सैन्य-शिक्षा प्रदान की जाती रही है। विभिन्न कालों में सैन्यशिक्षा का स्वरूप निम्नवत् व्यक्त किया जा सकता है।

वैदिकयुग में सैन्यशिक्षा का रूप ज्ञात नहीं हो पाता। इस काल में हम मुख्यतः आर्यों को दस्युओं के साथ युद्ध में रत पाते हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय भी सैनिक व्यवसाय रहा होगा, किन्तु सैनिकों की शिक्षाप्रणाली किस प्रकार की थी, यह कह पाना संभव नहीं है। अश्वारोहण तथा रथपरिचालन में पारंगत होने के कारण ही आर्यों ने विजयश्री ग्रहण की थी अतः उनका शस्त्रास्त्र विद्या एवं युद्ध में पारंगत होना अत्यन्त स्वाभाविक लगता है।

महाकाव्यकाल में चातुर्वर्णों में क्षत्रियों का मुख्य कार्य देशरक्षा करना हो जाने के कारण क्षत्रियों ने इसे व्यवसाय के रूप में परिगृहीत किया जिसके कारण सैन्यशिक्षा का महत्व बढ़ गया। तत्कालीन आश्रम अधिकांशतः सैनिक-शिक्षा के केन्द्र थे। रामायण एवं महाभारत में इस प्रकार के अनेक आश्रमों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, रामायण युग में इलाहाबाद में स्थित भरद्वाज आश्रम सैनिकशिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों के सैनिक प्रशिक्षण का एक आश्रम अयोध्या में था, जहाँ पर नियमित शस्त्राभ्यास के लिए राम और लक्ष्मण के कवच और अस्त्र-शस्त्र रखे रहते थे[1]। इस आश्रम के आचार्य के बारे में इतना ही ज्ञात हो सका है कि संभवतः ये कौशल राजकुमारों

१. रामायण, ३/३१/३१।

के गुरु एवं धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र के ज्ञाता सुधन्वा ही थे, जिनसे राम को अपनी प्रारम्भिक सैनिकशिक्षा प्राप्त हुई थी। उन्हें परवर्ती एवं उत्तम सामरिकशिक्षा विश्वामित्र एवं अगस्त्य आश्रम से प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार महाभारत काल में द्रोणाश्रम हस्तिनापुर में स्थित राज्याश्रयप्राप्त आश्रम था, जो तत्कालीन वृहत् सैनिक प्रशिक्षण का केन्द्र था। इस ग्रन्थ में ऋटचीक्, (ऋचिक) के पुत्र जमदग्नि के आश्रम[1] का वर्णन है, जिनके ज्येष्ठ पुत्र परशुराम ने भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महान् योद्धाओं को सैन्यशिक्षा प्रदान की थी।

गिरिव्रज (राजगिरि) मे जरासंध का एव द्वारका में बलदेव का मल्लयुद्ध-अखाड़ा था, जहाँ पर दुर्योधन, भीम आदि ने मल्ल-युद्ध विद्या ग्रहण की थी। महाभारत में मन्दीपिनि के आश्रम[2] का वर्णन है जहाँ पर कृष्ण एवं बलराम को सैन्यशिक्षा प्राप्त हुई थी। इस आश्रम में अन्य विद्याओं के साथ हस्ति एव अश्व परिचालन की भी शिक्षा दी जाती थी।

आधुनिककाल की भाँति प्राचीनकाल में भी सैनिक शिक्षालयों में प्रवेश हेतु कुछ योग्यताएँ निर्धारित थी। शरीरसौष्ठव और फुर्ती उसके लिए आवश्यक योग्यता मानी जाती थी। इसके अतिरिक्त सैनिक छात्रों मे सुदष्ट, सुबाहु, सुहनु, सुपाद, अकृश, विशालाक्ष और जितेन्द्रिय आदि गुणों का होना आवश्यक था[3]। किसी भी आश्रम में प्रवेश लेने के उपरान्त बहुत दिनों तक उन्हें कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। घास-फूस या नग्न भूमि ही उनका शयनस्थल होता था। भूख, प्यास, शीत एव गर्मी आदि सहने की उनमे शक्ति होना नितान्त आवश्यक था। विश्वामित्र के आश्रम मे राम-लक्ष्मण को घास पर ही सोना पड़ा था[4]।

सेना के चारो अंगों गज, अश्व, रथ एवं पदाति सेना को दृष्टि में रखकर शिक्षार्थी को हाथी-घोड़ों की सवारी और उनका नियन्त्रण (आरोह तथा विनय) तथा रथ चलाने की कला (रथ-चर्या) एवं विविध शस्त्रास्त्रो मे प्रशिक्षित करना युद्धशिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। रथी को सारथी के कार्य की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे आवश्यकता पड़ने पर वह सारथी का भी कार्य कर सके। लंका-युद्ध में जब लक्ष्मण ने मेघनाथ को सारथि-विहीन कर दिया था, तब उसने स्वयं रथ और बाण दोनों को साथ-साथ चलाकर इस विद्या की सार्थकता को सिद्ध किया था[5]।

सैनिक शिक्षालयों में आचार्य छात्रों की रुचि के अनुसार ही विद्या प्रदान करते थे अर्थात् जो छात्र जिस अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्राप्त करना चाहता था उसे उसी प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्या प्रदान की जाती थी[6]। विभिन्न युद्ध विद्याओं में पारंगत हो जाने के बाद सैनिकों की आश्रम में विविध प्रकार से परीक्षा होती थी। शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त

---

१. वनपर्व, ११७/३ । २. सभापर्व, अध्याय ५४ ।
३. उद्योग पर्व, अध्याय १६-८ । ४. बालकाण्ड, अध्याय २२ ।
५. रामायण, ६/८६/४३ । ६. आदि पर्व, अध्याय ३३ ।

छात्रों को उपाधियाँ प्रदान करने के लिए दीक्षान्त-समारोह का आयोजन होता था, जो आधुनिक सैन्यशिक्षा प्रणाली से मेल खाती है। इस समारोह में अर्द्धरथ, रथ, महारथ तथा अतिरथ आदि उपाधियाँ प्रदान की जाती थी। राज्य सैन्य मे पात्तिक, गुल्मपति, सेनापति, सेनानायक तथा बलाध्यक्ष आदि अनेक सैनिक पद होते थे, जो उपर्युक्त उपाधि-प्राप्त सैनिको के लिए सुरक्षित रहते थे। इस आयोजन के समय समस्त सम्भ्रान्त व्यक्ति और सम्मानित वीर उपस्थित होते थे। सैनिक-छात्र इस अवसर पर आचार्य के साथ कवच, धनुष-बाण एव तरकस तथा खड्ग आदि शस्त्रास्त्रो से युक्त रहते थे। आचार्य कृत्रिम समरांगण के केन्द्रस्थल पर पहुँच कर शख बजाते थे। समस्त सैनिक अपने-अपने धनुष पर नामयुक्त बाण रखकर इस प्रकार शरसधान करते थे कि वे आचार्यों के चरणो और कर्णों का स्पर्श कर बिना हानि पहुँचाते हुए निकल जाते थे जो आचार्यों के प्रति उनके सद्भाव का सूचक था और इसे ही सैनिक सलामी कही जाती थी[1]।

सैनिकशिक्षा की समाप्ति के उपरान्त छात्र द्वारा आश्रम का परित्याग करते समय शिष्य आचार्य को गुरुदक्षिणा प्रदान करता था। विश्वामित्र को राम ने राक्षसो का संहार, द्रोण को अर्जुन आदि ने द्रुपद का पराभव और एकलव्य ने अपना अगूठा गुरुदक्षिणा के रूप मे दिया था। यह परम्परा परवर्तीकाल मे भी कुछ सीमा तक विद्यमान रही। महाकवि कालिदास ने लिखा है कि विद्यार्थियो से कोई शुल्क नही लिया जाता था, बल्कि विद्यार्थीजीवन की समाप्ति[2] पर वह अपने शिक्षक को गुरुदक्षिणा[3] प्रदान करता था।

जातको, जिनकी रचना सभवत तृतीय शताब्दी ई०पू० तक हो चुकी थी, में तत्कालीन सैन्यशिक्षा एव उनकी सस्थाओ का उल्लेख मिलता है। इनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय के राजा अपने राजकुमारो को विद्योपार्जन के लिए तक्षशिला भेजा करते थे जो सैन्यशिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पर दो प्रकार के अध्यापको का उल्लेख है। इनमे से एक प्रकार के ऐसे अध्यापक होते थे जो केवल राजकुमारो को ही सैन्य-शिक्षा प्रदान करते थे। वहाँ जिन विषयो की शिक्षा दी जाती थी उनमे धनुर्वेद का भी महत्वपूर्ण स्थान था। असदिस जातक[4] में बोधिसत्व नामक राजकुमार का वर्णन आया है जिसने तक्षशिला मे अपने आचार्य से धनुर्विद्या सीखी थी और इसमे निपुणता भी प्राप्त की थी। इसी प्रकार तक्षशिला मे ही एक अन्य सैनिक विद्यालय का उल्लेख है जिसमे १०३ राजकुमार अनेक प्रकार की युद्ध विद्याओ, अश्वा-रोहण एव हस्ति परिचालन तथा विभिन्न शस्त्रास्त्रो के सचालन की शिक्षा ग्रहण करते थे[5]। एक अन्य स्थान पर यह वर्णन आया है कि एक गुरु ने अपने शिष्य को सैन्यविद्या की शिक्षा समाप्त कर लेने के उपरान्त उसे प्रमाण-पत्र के रूप में स्वयं अपनी 'तलवार, एक धनुष-बाण, एक कवच तथा एक हीरा' दिया और उससे यह कहकर अवकाश ग्रहण किया

---

१. विराट पर्व, अध्याय ५४/५।
२. रघुवंश, ५/३८।
३. रघुवंश, ५/२२।
४. जातक, २/४/१८।
५. सुतसोम जातक सं०/ ५४५।

कि वह उसके स्थान पर सैन्य शिक्षार्थी अन्य ५०० शिष्यों की पाठशाला के प्रमुख का पद ग्रहण करे[1]। इस उल्लेख से यह आभास होता है कि आचार्य अपने बाद अपने ही शिष्यों में से ही किसी योग्य शिष्य को अपना पद प्रदान करता था।

मौर्यकालीन सैन्य शिक्षण-प्रणाली का विस्तृत ज्ञान प्राप्त नहीं होता। किन्तु यत्र-तत्र जो कुछ सामग्री प्राप्त होती है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काल में पूर्ववर्ती सैनिकशिक्षा की परम्परा विद्यमान रही। आचार्य कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को सैन्यशिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला मे भर्ती किया था, जहाँ पर राजकुमारो को शिक्षा प्रदान की जाती थी। चन्द्रगुप्त आठ वर्ष तक सैनिक पाठशाला मे शिक्षा प्राप्त कर उस समय की समस्त सैन्यविद्याओ तथा कलाओ मे निपुण हो गया था। कौटिल्य ने राजकुमारो की शिक्षा के क्रम मे बताया है कि उन्हे दिन के प्रथम भाग को हाथी, घोड़े, रथ एवं शस्त्रास्त्र आदि विद्या सम्बन्धी शिक्षाओ मे व्यतीत करना चाहिए[2]। इस काल मे स्थायी सेना के सैनिको को युद्धकला सम्बन्धी समस्त शिक्षाओ का अभ्यास कराया जाता था[3] और राजा स्वय सैनिक अभ्यास का निरीक्षण करता था।

पतजलि महाभाष्य[4] मे भी धनुर्विद्या के प्रशिक्षण का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस काल मे धनुर्विद्या को सामान्य पाठ्यक्रम के अन्तर्गत नही रखा गया था। ईसा की प्रथम शताब्दी मे प्राचीन भारत मे किसी न किसी रूप मे सैनिक शिक्षालय विद्यमान थे। कनिष्क के समकालीन लेखक अश्वघोष ने अपने सौन्दरानन्द काव्य मे एक राजकुमार के लिए विभिन्न विषयो के साथ धनुष-बाण और बर्छी चलाने की कला तथा सैन्य-सचालन एव सैन्य-विन्यास की शिक्षा मे भी पारंगत होने का उल्लेख किया है[5]। इसी प्रकार महावस्तु[6] के अनुसार युवक राजकुमार गौतम को यशोधरा के पाणिग्रहण सस्कार में पाँच सौ शाक्य राजकुमारो के साथ युद्धकला प्रदर्शन मे भाग लेना पड़ा था। इससे यह ज्ञात होता है कि इस समय में सैन्यशिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया जाता रहा होगा।

राजकुमारों को सैन्यशिक्षा प्रदान करने की प्रथा परवर्ती काल मे भी विद्यमान रही। कालिदास ने लिखा है कि एक राजकुमार को अस्त्र-शस्त्र[7] के सचालन की क्रिया मे पारगत हो जाने पर हो उसे गोदान सस्कार मे जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसके अनुसार सैनिको, मुख्य रूप से क्षत्रियो एव राजाओ, को विभिन्न शस्त्रास्त्रो की शिक्षा दी जाती थी, जिसके लिए विद्यार्थी मे शारीरिक शक्ति[8] का होना आवश्यक था। इस काल में भी गुरुकुल पद्धति का पूर्णरूप से ह्रास नही हुआ, किन्तु मालविकाग्निमित्रम् मे राजकीय विद्यालय का उल्लेख एक विशेष प्रकार की सस्थाओ के उदय का सकेत करता है।

१. जातक स० ५/१२७। २. अर्थशास्त्र, १/५/१२।
३. अर्थशास्त्र, ५/२। ४. महाभाष्य १/३/२१, पृ० ६२।
५. सौन्दरानन्द, प्रथम सर्ग। ६. महावस्तु, २/३७।
७. रघुवश, ३/३१। ८. रघुवंश, २/४।

इस काल में शिक्षणसंस्थाओं के अध्यापकों को राजकोष से नियमित वेतन का प्राविधान था[1]। शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त राजा अपने पुत्र को स्वयं सैन्यशिक्षा प्रदान करता था। कालिदास ने लिखा है कि राजा दिलीप, जो स्वयं विभिन्न शस्त्रास्त्र विद्या में पारंगत थे, ने अपने पुत्र रघु को विविध प्रकार की आयुध विद्या की शिक्षा प्रदान की थी। इस काल में युद्ध पर जीवित रहने वाली विशाल सेना को अस्त्र प्रहार की कला की पूर्णरूप से शिक्षा प्रदान की जाती थी[2]।

हर्षकाल मे सैनिको के सुचारु शिक्षण की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु इस काल में सैनिको के लिए युद्धकला के शिक्षण की व्यवस्था अवश्य रही होगी। राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन की सैनिकशिक्षा का एक स्थान पर वर्णन आया है जिसमे इन्हें समस्त प्रकार की विद्याओं के ज्ञान के उपरान्त विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रशिक्षण दिया गया था[3]। कादम्बरी मे उल्लेख मिलता है कि राजकुमार चन्द्रापीड को उसके पिता ने विशेषरूप से निर्मित तथा सुरक्षित विद्या मन्दिर मे विद्याध्ययन के लिए भेजा था जहाँ सभी विषयो मे आयुधो के प्रयोग की भी शिक्षा दी जाती थी।

सैन्य प्रशिक्षण सम्बन्धी उपर्युक्त विवरणों के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि उन आश्रमो एव शिक्षक सस्थाओ मे क्या समस्त वर्णों के लोगो को सैनिक शिक्षा दी जाती थी ? ज्ञातव्य है कि वैदिककाल से ही राष्ट्र की रक्षा एव प्रशासन का भार क्षत्रियों को ही सौंप दिया गया था और इस वर्ण को ही योद्धावर्ग की संज्ञा प्रदान की गयी थी। महाकाव्य काल तक आते-आते यह वर्ण पूर्णत: सत्ताधारी बन गया था। अत: स्पष्ट होता है कि कुछ अपवादो को छोड़कर क्षत्रियो को ही प्रमुखरूप से सैनिकशिक्षा दी जाती रही होगी, किन्तु परवर्तीकाल मे सेना में अन्य वर्ण के लोगो को भी स्थान दिया जाने लगा और उन्हे भी शिक्षा का अधिकार प्राप्त हो गया। जातको के अनुसार ब्राह्मण वर्ग के लोग सैन्य कला, शल्य चिकित्सा और नागवशीकरण आदि विषयों की शिक्षा ब्राह्मण एवं अन्य वर्णो के सभी ब्रह्मचारियों को प्रदान करते थे[4]। अन्यत्र उल्लेख मिलता है कि एक ब्राह्मण पिता ने अपने पुत्र को, जिसके विषय मे ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि वह चक्रवर्ती होगा, तक्षशिला में धनुर्वेद की शिक्षा के लिए भेजा था[5]। मौर्यकाल मे भी सभी वर्ण के लोगो को सेना में भर्ती किया जाने लगा था, किन्तु कौटिल्य ने अन्य वर्गों की अपेक्षा क्षत्रिय वर्ग को ही सेना मे रखने का निर्देश दिया है। फिर भी उन्होने यौद्धिक आवश्यकता पड़ने पर अन्य वर्ग के लोगो को भी नियुक्त करने का समर्थन किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्य जाति के व्यक्तियो को भी सैन्यशिक्षा दी जाती रही होगी। तभी तो समय पड़ने पर उनसे सैनिक कार्य लिया जाता रहा होगा।

---

१. मालविकाग्निमित्रम् पृ० ७।
२. रघुवंश, ३०/३०, १७-६२।
३. हर्षचरित्
४. असदिस जातक सं० १८१।
५. सारभंग जातक सं० ५२२।

हम देखते हैं कि परवर्तीकाल मे अन्य वर्ग के लोगों में भी राज्यप्राप्ति की अभिलाषा जागृत हुई। शुगों, कण्वों एव कदम्बों की महत्वाकांक्षा ने ही उन्हें ब्राह्मण होते हुए भी सम्राट के पद पर आसीन किया था। पुष्यमित्र शुग, जो कि मौर्यकालीन राजा वृहद्रथ का सेनापति था, की सम्राट बनने की प्रबल इच्छा ने ही उसे अपने शासक की हत्या करने के लिए प्रेरित किया होगा। ब्राह्मण, शक, कुषाण, गुप्त एवं हर्षकाल में यद्यपि क्षत्रियों को सेना में प्राथमिकता दी जाती थी, किन्तु इस काल मे भी बहुत से ब्राह्मण सेना में उच्च पदो पर आसीन हुए थे। इसी प्रकार वैश्य एवं शूद्र वर्ण के लोगो द्वारा सैनिक-वृत्ति ग्रहण करने के दृष्टान्तो की भी कमी नही है। धनुर्वेद से भी ज्ञात होता है कि सैन्य-शिक्षा चतुर्वर्णों को दी जाती थी। चतुर्वर्णों को सैन्यशिक्षा देना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है, क्योंकि यदि सभी वर्णों के राजा शासन का भार सम्भाल सकते थे तो स्पष्टत. समस्त वर्णों के लोगो को भी सेना में भर्ती किया जाता रहा होगा और उन्हे सैन्यशिक्षा प्रदान की जाती रही होगी। ध्यातव्य है कि ह्वेनसाग की भारत यात्रा के समय माहेश्वर, उज्जैन तथा असम मे ब्राह्मण और कन्नौज मे वैश्य तथा सिन्ध एव मणिपुर में शूद्र राजा राज्य करते थे।

प्राचीन भारतीय युद्धो मे गजसेना एवं अश्वसेना को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। किन्तु इनकी सांग्रामिक उपयोगिता तभी सार्थक होती थी जब उन्हे युद्ध भूमि मे युद्ध करने, आरोहियों को वहन करने, उनको बचाने तथा शत्रु द्वारा विरचित व्यूह भग आदि का पूर्ण रूप से प्रशिक्षण दिया जाय। आचार्य कौटिल्य ने हाथियो को प्रशिक्षित करने के लिए सात उपायो, यथा उपस्थान, सम्वर्तन, समयान, वधावध, नागरायण एव सांग्रामिक का उल्लेख किया है[1]। जातको मे भी हस्ति-शिक्षा का उल्लेख है। इस ग्रन्थ मे वाराणसी के समीप किसी हस्ति-प्रशिक्षक के बोधिसत्व नामक पुत्र का उल्लेख है जिसे राजा ने अपने राजकीय हाथी को प्रशिक्षित करने के लिए रखा था। इसमे उल्लिखित वर्णनो से ज्ञात होता है कि हाथियो को शत्रु के दुर्ग की दीवालो एव फाटको को तोडने की भी शिक्षा दी जाती थी[2]। इस बात की पुष्टि महावंस[3] से भी होती है, जिसमे हाथी द्वारा दुर्गद्वार तोडने का उल्लेख है। मनुस्मृति मे भी अश्वो एव हस्तियो को शिक्षित करने का उल्लेख है[4]। यह प्रथा परवर्तीकाल मे भी विद्यमान रही। हर्षचरित्[5] से हाथियों के प्रशिक्षण पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसमे हाथियों के प्रशिक्षक को महामात्र (महावत) कहा गया है। महामात्र हाथियो को युद्ध की शिक्षा देने के लिए चर्मपुट (मृतक हाथी के चमडे को भरवाकर बनाया गया पुतला) के माध्यम से युद्ध की शिक्षा देना था। हाथियो को शिक्षा देने मे विविध पद्धतियो को प्रयोग मे लाया जाता था, जिनमे समण्डल भ्रन्ति (मण्डलाकार घूमना) तथा वक्राचार (टेढी चाल) श्रेष्ठ शिक्षा-पद्धति मानी जाती थी।

---

१. अर्थशास्त्र २/३१-३२। २. जातक २/४/१८२।
३. महावंश, २५/२६-३८। ४. मनुस्मृति ३/१६२।
५. महामात्रपेटकैश्च प्रकटितकरिक मचर्मपुरः —हर्षचरित्

उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट होता है कि आधुनिककाल की भाँति प्राचीनकाल मे भी सैनिको को सैन्यशिक्षा प्रदान करना अति आवश्यक था। प्रारम्भिककाल मे आश्रम ही सैन्यशिक्षा के केन्द्र होते थे और उनमे क्षत्रियों को ही प्रमुखरूप से शिक्षा दी जाती थी, किन्तु उत्तरोत्तर उनमें विकास होता गया और कालान्तर में उनके स्थान पर अन्य शिक्षणसस्थाओ का उदय हुआ जहाँ सभी वर्ण के सैनिको को सैन्यशिक्षा प्रदान की जाने लगी। आज की भाँति सैनिको को सेना मे प्रवेश कर उन्हे सरकार की तरफ से शिक्षा प्रदान करना सम्भवतः प्राचीनकाल में सम्भव न था, क्योकि इतनी विशाल सेनाओ को किसी संस्था मे रखकर प्रशिक्षित करना स्वाभाविक प्रतीत नही होता। ऐसी स्थिति मे केवल राजकुमारो एव सेना के उच्चाधिकारियों तथा उनके पुत्रो को ही शिक्षा प्रदान करना सम्भव था। सामान्य सैनिकों को शिक्षणसस्थाओ मे बहुत कम शिक्षा दी जाती रही होगी। अर्थशास्त्र[1] का यह कथन, कि प्रत्येक ग्रामवासी को अपनी रक्षा स्वय करनी चाहिए, स्पष्ट करता है कि प्रत्येक नागरिक अपने धन-जीवन की स्वय रक्षा करने मे समर्थ होता था। इसलिए समस्त नागरिक, ग्राम के वृद्धों से ही धनुष-बाण आदि विभिन्न आयुधो के प्रयोग को सीखता था और एतदर्थ आवश्यक अस्त्र-शस्त्र को रखता भी था। यूनानी इतिहासकारो के विवरणो से भी इस बात की पुष्टि होती है। इनके अनुसार कई स्थानो पर यूनानी सैनिको को वहाँ की सेना के प्रतिरोध का उतना भीषण सामना नही करना पडा था, जितना कि अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित वहाँ की जनता का[2]। यहाँ तक कि कुछ ग्राम कुशल सैनिको के लिए ख्यातिलब्ध थे, जहाँ के निवासी सैन्य-कला मे इतने निपुण थे कि उन्हे राजा की ओर से करमुक्त कर दिया जाता था। इस कर मुक्त के बदले ये ग्राम राजकीय सेना मे नियमित रूप से सैनिक भेजते थे[3]।

---

१. अर्थशास्त्र, २/३४।

२. मैक्रिण्डल, इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेंडर, पृ० १४०।

३. अर्थशास्त्र ६/१।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में सूक्ष्म जीवविज्ञान व वनस्पतिविज्ञान सम्बन्धित तथ्य

—डा० पुरुषोत्तम कौशिक
वनस्पति विज्ञान विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

इस समय भारत की शिक्षा-प्रणाली राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व प्रशासनिक आवश्यकताओ को भलीभाँति पूरा कर रही है या नही, एक विवेचनात्मक विषय है। पर इस बात मे कोई सन्देह नही कि प्राचीन समय में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली, न केवल छात्रो के मानसिक व शारीरिक विकास मे सहायक थी बल्कि राष्ट्र की आर्थिक, सामाजिक व अन्य आवश्यकताओ की भली प्रकार से पूर्ति करती थी। उस समय की शिक्षणसंस्थाओ मे विद्यार्थियो को वनस्पतिविज्ञान, आयुर्वेद, सूक्ष्म जीवविज्ञान व अन्य मकायो मे उच्चकोटि का ज्ञान दिया जाता था। वेद, विशेषकर अथर्ववेद, मनुस्मृति व चरक, कश्यप और सुश्रुत की संहितायें इस बात के ठोस प्रमाण हैं।

वनस्पतिविज्ञान व सूक्ष्म जीवविज्ञान सम्बन्धित तथ्य वैसे तो ऋग्वेद में भी हैं। वनस्पतियो व सूक्ष्मजीवो के बारे मे पर्याप्त जानकारी यहाँ मिलती है पर अथर्ववेद व चरक संहिता तो इन विषयो पर ज्ञान के भण्डार है और उनमे पाई जाने वाली जानकारी इस आधुनिक युग मे भी कसौटी पर खरी उतरती है। अथर्ववेद की रचना ईसा मसीह के जन्म से १२०० वर्ष पूर्व हुई लगती है। कुछ विद्वान तो अथर्ववेद को इससे भी पुराना मानते हैं। ऋग्वेद तो अथर्ववेद से बहुत अधिक पुराना है। चरकसंहिता भी तीन हजार वर्ष से अधिक पुरानी है। अकेले अथर्ववेद मे १२७ पौधो का औषधीय उपयोग दिया गया है। चरकसंहिता मे तो ३०० से अधिक पौधे वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के कुछ अन्य ग्रन्थ व निघन्टु भी प्राचीन समय मे लिखे गये जिनमे महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

वेदो की रचना किसने की, इस बात के ठोस प्रमाण नही हैं। वेदो को मानवीय कल्याण के लिए ईश्वरीय ज्ञान माना जाता है। चरक संहिता का संकलन भी अकेले श्री चरक ने नही किया था। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने दक्ष को ज्ञान दिया, दक्ष ने अश्वनिकुमार को, अश्वनि ने इन्द्र को। इन्द्र के बाद वनस्पति व औषधियो से सम्बन्धित कार्य की विद्वानों की तीन महत्वपूर्ण संस्थायें बनी जहाँ पर आयुर्वेद के तीन ग्रन्थो अर्थात् चरक संहिता, सुश्रुत संहिता व कश्यप संहिता का निर्माण हुआ। इनमे से एक वर्ग जिसने चरक संहिता के तैयार होने मे योगदान दिया, का नेतृत्व इन्द्र के बाद ऋषि भरद्वाज ने किया। भरद्वाज ने अत्रेय-पुनर्वसु को शिक्षित किया। चरक ने इन सब विद्वानो के कार्य

को एकत्रित किया व छढबल ने इस कार्य को पुन: सुसंगठित ढंग से प्रस्तुत किया। इस प्रकार ज्ञान बाप से पुत्र के पास व गुरु से शिष्य के पास अर्जित होता रहा। बाद मे चरक संहिता की एक प्रति बगदाद में बर्मीसाइड वंश की राजकुमारी के इलाज के लिए गयी जहाँ से यह ज्ञान चीन व पाश्चात्य देशों मे गया।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के ३७वें सूक्त के आठ मन्त्रो मे बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है कि किस प्रकार से वनस्पतियों द्वारा हम सूक्ष्म जीवों से छुटकारा पाकर प्रदूषित नदी का जल शुद्ध कर सकते हैं। मन्त्र कहते हैं कि गुग्गुलू, पीलू, नलदी (मांसी), ओक्षगन्धि व प्रमन्दिनी पाँच औषधियाँ हैं जो जल मे फैलने वाले सूक्ष्म जीवो को दूर भगाती हैं। अर्जुन, कर्करी व आघाट के वृक्ष भी हमे सूक्ष्म जीवों से छुटकारा दिला सकते हैं। इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में कहा गया है कि जहाँ पीपल व बड़ आदि महावृक्ष होते हैं वहाँ से भी ये सूक्ष्मजीव दूर जाते हैं। छठे व सप्तम मन्त्र में व्यक्त है कि अजशृंगी न केवल रोगकृमियों को दूर करती है बल्कि उनमे जननशक्ति को भी समाप्त कर देती है। अन्तिम मन्त्र में बताया गया है कि सूर्य की किरणें यहाँ इतनी प्रबल हैं कि सूक्ष्म जीव स्वत: दूर चले जाते है।

अथर्ववेद में व आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में दही से उपचार व आसव तैयार करने की विधियो का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के वैज्ञानिक फरमैन्टेशन विधि से भलीभांति परिचित थे। फरमैन्टेशन के लिए वे बैक्टीरिया, यीस्ट या अन्य कवक प्रयोग करते थे। ओस्मोफिलिक सूक्ष्मजीव प्राय: फरमैन्टेशन विधि में प्रयुक्त की जाती थी जिन्हे विशेष प्रकार के पुष्पो से प्राप्त किया जाता था। अनेक प्रकार के आसव तैयार किये जाते थे जिनका परिचलन आज भी है। दही के अतिरिक्त पनीर व मक्खन आदि बनाये जाने का भी वर्णन मिलता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सोमरस, सोम नामक कुकुरमुत्ता अथवा मशरूम वगैरा से तैयार किया जाता था। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की पौधो और मनुष्य की बीमारियाँ व उनका कारण बनने वाले सूक्ष्मजीवो के बारे मे भी जानकारी मिलती है। इतना ही नही वेदों मे भूमि मे पाये जाने वाले सूक्ष्म–जीवों अर्थात् नाइट्रोजन फिक्सिंग बैक्टीरिया व कवक आदि का भी वर्णन मिलता है। खेत में हल चलाने से जो विशेष प्रकार की गन्ध आती है उसका भी वर्णन वेदों मे आता है। आज हम भली प्रकार जानते हैं कि यह गन्ध विशेष प्रकार के एन्जाइम enzyme) जो भूमि मे पाये जाने वाले कवक छोड़ते हैं, के कारण आती है।

वेदो में औषधीय पौधों के शीर्षक से मेरे कुछ लेख वैदिक पाथ में प्रकाशित किये जा चुके हैं जहाँ इन वनस्पतियों के नाम आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। प्राचीन भारत मे आर्किड्ज विषय पर जानकारी लेखक की पुस्तक "इकालोजिकल एण्ड एनाटामिकल्ज मार्वल्ज आव दा हिमालयन आर्किड्ज" जिसे टुडे एण्ड टुमारो पब्लिशर्ज ने नई दिल्ली से प्रकाशित किया है, में दी गई है।

प्राचीन शिक्षा के प्रतिमान

—डा० हर्षनारायण

वैदिक जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते हैं। तीन प्रकार के जन्म, जिन्हें शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रकार निरूपित किया गया है – 'त्रिर् ह वै पुरुषो जायते। एतन् नु एव मातुश् चाधि पितुश् चाग्रे जायते, अथ यं यज्ञ उपनयति स यद् यजते तद् द्वितीयं जायते, अथ यत्र म्रियते यत्रैनामग्नावभ्यादधति स यत् ततस् सम्भवति तत् तृतीयं जायते।'[1] अर्थात् प्रथम जन्म माता-पिता के प्रति माता के गर्भ से होता है। यह जन्म सर्वसाधारण है, सभी मनुष्यों का होता है। द्वितीय जन्म यज्ञ द्वारा होता है और तृतीय जन्म पुनर्जन्म है जो मरने और अग्नि को समर्पित होने के बाद मनुष्य को प्राप्त होता है। बृहन्नारदीय-पुराण में तीन जन्म किञ्चिद् भेद के साथ कथित हैं – 'ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यो द्विजाः प्रोक्तास् त्रिजास् तथा, 'मातृतश् चोपनयनाद्, दीक्षाया जन्म वै क्रमात्।'[1क] यह तीसरा जन्म भी सर्वसाधारण है। इनमें से तृतीय जन्म वाच्यार्थत. जन्मान्तर है, इस जीवन के बाद घटित होने वाला है, अत· प्रथम दो जन्म इस जीवन में महत्त्वपूर्ण हो जाते है। जिन के ये दोनों जन्म सिद्ध हो जाते हैं वे द्विज अथवा द्विजाति कहे जाते हैं और शेष एक जाति। शास्त्रानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज/द्विजाति है, जबकि शूद्र एकज/एकजाति—

'ब्राह्मणाः, क्षत्रिया, वैश्यास् त्रयो वर्णा द्विजातयः;
'चतुर्थ एकजातिस् तु शूद्रो; नास्ति तु पञ्चमः।'[2]

प्रथम जन्म तो सभी प्राणियों का होता है, द्वितीय जन्म ही मनुष्य-कारक है, वास्तविक है, स्थायी महत्व का है —

'आचार्यस् त्वस्य या जातिं विधिवद् वेदपारगः
'उत्पादयति साविश्या सा सत्या साऽजराऽमरा।'[3]

इस द्वितीय जन्म के विषय में अथर्ववेद की काव्यमयी उक्ति है—

'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त.।
'तं रात्रीस् तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा·।'[4]

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी (छात्र) को, उसका उपनयन-संस्कार करते हुए, तीन रात अपने गर्भ में धारण करता है और इस प्रकार से उत्पन्न ब्रह्मचारी को देखने के लिए देवता भी दौड़ पड़ते हैं।

द्वितीय जन्म की तुलना मे प्रथम जन्म का कितना कम महत्त्व है, यह शतपथ-ब्राह्मण के अधोलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है— 'अमद्धेव वा अस्यातः पुरा जानं भवति। इद ह्याहु.रक्षासि योषितमनुसचन्ते, तदुत रक्षास्येव रेत आदधतीति। अथात्राद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञाज् जायते। तस्मादपि राजन्य वा वैश्यो वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्; ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते।'[5] अर्थात् उपनयन अथवा दीक्षा के पूर्व जो जन्म हुआ होता है वह वस्तुतः अविनिश्चित ही होता है। कहते हैं कि उस जन्म मे राक्षसो के वीर्य का भी सम्मिश्रण रहता है। अतः वास्तविक जन्म वह है जो ब्रह्म (वेद) और यज्ञ द्वारा सम्पन्न होता है और चूँकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्म और यज्ञ से भी उत्पन्न होते हैं, अतः क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण कह सकते हैं।

अस्तु, छात्र की महिमा अथर्ववेद की उपर्युदाहृत इस उक्ति से भलीभाँति प्रकट होती है कि उसे उपनीत होकर निकलते देखने के लिए देवता दौड पड़ते हैं। भारद्वाज-गृह्यसूत्र मे तो यहाँ तक कहा गया है कि समावर्तन-सस्कार के पूर्व ब्रह्मचारी प्रात काल एक कमरे मे बन्द कर दिया जाता था, ताकि उसकी ज्योति सूर्य की ज्योति को लज्जित न कर दे।[6] वस्तुत विद्यार्थी के मार्ग से राजा भी हट जाता था।[7]

वस्तुतः प्रथम जन्म प्रकृति में होता है और द्वितीय जन्म सस्कृति मे। प्रथम जन्म प्राकृतिक होता है और द्वितीय जन्म साँस्कृतिक। और सस्कृति ही मनुष्य को अन्य प्राणियो से भिन्न करती है। वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का सस्कृति मे जन्म उपनयन-सस्कार, *यज्ञोपवीत-सस्कार से होता है। यह सस्कार सस्कृति*, शिक्षा, आचार्यकुल अथवा गुरुकुल के लिए प्रवेशपत्र है। यह प्रवेशपत्र व्रतहीनो के लिए नही है, उनके लिए है जो सस्कृति के लिए व्रत लेने को तैयार हो, सस्कृति के प्रति प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हो, अनृत से सत्य की ओर सङ्क्रमण की निष्ठा रखते हो, जिसका सङ्केत अधोलिखित वेद-मत्र मे पाया जाता है—

'अग्ने ! व्रतपते ! व्रत चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन् मे राध्यताम्।
'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।'[8]

व्रत से ही दीक्षा प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य—

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्,
'दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।'[9]

विद्या का व्रत प्राचीनकाल मे प्राय 'द्विजो' (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के लिए प्रतिपादित था। वस्तुत. उक्त तीन वर्ण द्विज इसीलिए कहलाते ही थे कि उनका उपनयन, यज्ञोपवीत और व्रत द्वारा दूसरा जन्म सम्पन्न होता था। बौधायन-गृह्यसूत्र रथकार (बढई) के लिए भी उपनयन का द्वार खोलता है।[10] (रथकार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री

से उत्पन्न सन्तान का अभिधान है।) महाभारत से सूचना मिलती है कि अतिप्राचीनकाल मे चण्डालो को भी वेद-श्रवण (वेदाध्ययन) का अधिकार था—

'पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति।'[11]

महाभारत के अधोलिखित श्लोक से भी यही सिद्ध होता है—
'सर्वे वर्णा–ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च सर्वे-नित्यब्याहरन्ते च ब्रह्म।
'तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्वं विश्व ब्रह्म चैतत् समस्तम्।'[12]
अहिर्बुध्न्य-संहिता चारो वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार देती है—
'ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यो वर्णाश्चत्वार उद्‌गताः
'ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्रय्यादीनां चतुष्टयम्।'[13]

जैमिनि से प्राचीनतर मीमासूत्रकार बादरि वैदिक धर्म-कर्म मे शूद्र का भी अधिकार मानते थे—'निमित्तार्थेन बादरि, तस्मात् सर्वाधिकार स्यात्।'[14] भारद्वाज-श्रौतसूत्र के अनुसार किन्ही आचार्यों का मत है कि शूद्र भी तीनो वैदिक अग्नियाँ जला सकता है।[15] लघुविष्णु-स्मृति पञ्चमहायज्ञ का अधिकार शूद्र को भी देती है—

'पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते।'[16]
वृद्धहारीत—स्मृति शूद्र को भी मन्त्राधिकार देती है—
'मन्त्राधिकारिण. सर्वे, ह्यनन्यशरणा यदि।'[17]

महाभारत में शूद्र-सहित चारों वर्णों के वेदाधिकार के सम्बन्ध मे एक विधि-वाक्य भी प्राप्त होता है—

'श्रावयेच् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणामग्रतः।
'वेदस्याध्ययनं हीदं, तच् च कार्यं महत् स्मृतम्।[18]

और यजुर्वेद में अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दावली मे मन्त्राधिकार शूद्र आदि सबको दिया गया है—'यथेमां वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य.। ब्रह्म-राजन्याभ्यां, शूद्राय, चार्याय च, स्वाय, चारणाय च।'[19]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि यद्यपि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार सामान्यत. वर्जित था, तथापि ऐसे आचार्य हो गये हैं जिन्होने वेदाध्ययन का द्वार शूद्र के लिए खोलने का उपक्रम किया।

स्वामी दयानन्द ने एक स्थान पर लिखा है, 'और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसंहिता छोड के सब शास्त्र पढावे। शूद्र पढे परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है।'[20] हमें उन आचार्यों का पता नही।

स्त्रियो के वेदाध्ययन आदि को लेकर भी प्राचीनों मे मतभेद पाया जाता है।

पुराण आदि मे शूद्र के साथ-साथ स्त्री को भी वेदाध्ययन का निषेध किया गया है—

'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
'इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।'[21]

किन्तु अति प्राचीनकाल मे स्त्री का यज्ञोपवीत भी होता था और उसे वेदाध्ययन तथा गायत्री का भी अधिकार था —

'पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते,
'अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा।'[22]

अथर्ववेद में कन्या के लिए भी ब्रह्मचर्य के बाद विवाह का विधान है—
'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[23]

स्कन्दपुराण की अङ्गभूत सूतसंहिता में कण्ठत. स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज-स्त्रियो को भी है—

'द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिता'[24]

कहीं-कहीं 'यज्ञोपवीतिनी' कन्या का भी उल्लेख है,[25] और यह भी आता है कि पति के साथ पत्नी भी वेद-पाठ करे।[26] और गोभिल-गृह्यसूत्र मे यह बात साफ की गयी है कि पत्नी बिना पढ़े हवन नही कर सकती—'नहि खलु अनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुम्।'[27] मध्व-सम्प्रदाय मे अधोलिखित श्लोक प्रचलित है—

'आहुरप्युत्तमस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके।
'यथोर्वशी, यमी चैव, शच्याद्याश् च, तथाऽपराः।[28]

हारीत-स्मृति मे दो प्रकार की स्त्रियाँ मानी गयी हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी को उपनयन, अग्नीन्धन और स्वगृह मे भिक्षाचर्या का अधिकार है, जब कि सद्योवधू का उपनयन नहीं होता—'द्विविधा हि स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश् च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयन, अग्नीन्धन, स्वगृहे भिक्षाचर्यं च। सद्योवधूनामुपनयनमकृत्वा विवाह. कार्यः।'[29]

इस प्रकार हम देखते है कि शूद्रो और स्त्रियो के उपनयनाधिकार और वेदाध्ययनाधिकार को लेकर प्राचीनकाल मे दोनो परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे।

किन्तु यह मतभेद केवल वेदाध्ययन के सम्बन्ध मे था, अध्ययनमात्र के सम्बन्ध में नहीं। अन्य प्रकार के अध्ययन मे सैद्धान्तिक रूप से प्रायः सबको अधिकार था, यहाँ तक कि ब्रह्मविद्या में भी। जो शङ्कराचार्य शूद्र के लिए वेदाध्ययन का बलपूर्वक निषेध

करते हैं, वेद-मन्त्र सुनने मात्र से शूद्र के कान लाख और सीसे से भर देने की गौतम-धर्मसूत्र में प्रतिपादित परम्परा का सानुमोदन उल्लेख करते हैं,[30] वे ही विदुर, धर्मव्याध आदि को आत्मज्ञानी[31] तथा वाचक्नवी, रैक्व, आदि को ब्रह्मज्ञानी[32] मानते हैं, जबकि ये सब या तो शूद्र या शूद्रोत्पन्न हैं या अज्ञातजन्मा।

एक बात और स्पष्ट है। सम्पूर्ण भारतीय निगमागम में सहशिक्षा की कोई कल्पना नही है। वस्तुत: केवल पुरुषों के आचार्यकुलों, गुरुकुलों की सूचना प्राप्त होती है। आचार्य से दो स्त्रीलिङ्ग शब्द बनते हैं—आचार्यानी और आचार्या। आचार्यानी का अर्थ तो आचार्य-पत्नी है[32] किन्तु आचार्या को आचार्य का समकक्ष अवश्य माना जाता है। वस्तुत: वैयाकरण 'आचार्या' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं, 'आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। · आचार्या स्वयं व्याख्यात्री।[34] और ऊपर टिप्पणी २२ मे जिस श्लोक का हवाला दिया गया है उसे उद्‌धृत करते हुए कहते हैं कि प्राचीनकाल में जो ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ हो गयी हैं उन्ही को लक्ष्य करके उपाध्यायी और आचार्या शब्द बनाये गये हैं।[35] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी स्त्रियाँ आचार्य भी हुआ करती थी, और आचार्य की परिभाषा मनुस्मृति मे इस प्रकार की गयी है—

'उपनीय तु य: शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विज:
'सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।'[36]

अर्थात् वेद का अध्यापक आचार्य कहलाता था, अत: वेद की अध्यापिका आचार्या कही जाती थी। तथापि उनकी अध्यापन-संस्था अथवा अध्यापन-प्रक्रिया आदि के विषय में, जहाँ तक हमे पता है, परम्परा मौन है। ऐसा नही सुना जाता कि अमुक कन्या यज्ञोपवीतिनी अथवा उपनीत होकर किसी आचार्या के कुल मे अध्ययनार्थ गयी हो।

यही दशा 'उपाध्यायी' शब्द की है। उपाध्यायानी उपाध्याय-पत्नी और उपाध्यायी स्वय व्याख्यात्री। ऊपर टिप्पणी ३३ से ३५ तक दिये हुए सन्दर्भों मे इस पर भी उसी प्रकार विचार हुआ है। उपाध्याय की परिभाषा देते हुए मनु कहते हैं कि जो वेद का केवल एक अंश अथवा वेदांत पढाये और वह भी वृत्ति लेकर, उसे उपाध्याय कहते है—

'एकदेश तु वेदस्य वेदाङ्गन्यपि वा पुन:
'योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्याय: स उच्यते।'[37]

उपाध्यायी के विषय में वही प्रश्न उठता है जो आचार्या के प्रसङ्ग मे अभी उठाया गया है।

यहाँ प्रसङ्गत: यह भी उल्लेखनीय है कि वृत्ति को लेकर विद्या-दान को प्राचीनकाल मे निन्दनीय माना जाता था। शास्त्र-विक्रयी की निन्दा सर्वत्र है। कालिदास ज्ञान बेचने वाले को वणिक् घोषित करते हैं—

'यस्यागमः केवल-जीविकार्थं तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।'[38]

अस्तु, छात्र दो प्रकार के होते थे—(१) 'अन्तेवासी'[39] अथवा 'आचार्यकुलवासी'[40] और (२) 'दण्डमाणव'[41]—जैसे आजकल के छात्रावासी और दैनन्दिन विद्यार्थी।

प्राचीनकाल में पाठ्यक्रम तीन प्रकार का था— (१) वेद-विद्या/त्रयी-विद्या, (२) धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र और (३) लोकायत (सेक्युलर)। वेदाध्ययन चरणो और शाखाओ मे होता था। वेद के अनेक चरण, अनेक शाखाएँ, बन गये। प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध विशालकाय वाङ्मय बन गया—अनुशाखा, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषद्, उपनिषद्, कल्प, अनुकल्प। शाखाध्यायिनी स्त्रियाँ भी होती थी—कठशाखाध्यायिनी 'कठी' इत्यादि।[42] वेद-विद्या/त्रयी-विद्या का प्रचार-प्रसार मुख्यतः ब्राह्मणों में रहा। राजाओ के लिए भी इस विद्या का अध्ययन शास्त्रत अनिवार्य था, यद्यपि व्यवहार मे इसका प्रचार राजन्य-वर्ग के बीच घटता गया है। धर्मशास्त्र का प्रचार ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो वर्णों मे था। मोक्ष-शास्त्र की शिक्षा-दीक्षा में क्षत्रिय, एक समय, उपनिषद्-काल में, ब्राह्मणों से बाजी मार ले गये। छान्दोग्योपनिषद् मे ब्रह्मविद्या-विशेष के सम्बन्ध मे राजा प्रवाहण जैबलि के मुख से ब्रह्मर्षि गौतम के प्रति कहलाया है, 'इय न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।'[43] बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी कहा गया है, 'इय विद्येतः पूर्वं न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास।'[44] गीता मे कृष्ण का वक्तव्य है कि उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मयोग राजर्षि-परम्परा मे ही प्रचार-प्रसार को प्राप्त हुआ।[45] इस विद्या मे आगे चल कर श्रमणो ने भी पर्याप्त योगदान किया। इसी मे आन्वीक्षिकी, दर्शनशास्त्र, अथवा तर्कशास्त्र का भी विकास हुआ, जिसे ब्राह्मण आरम्भ में शङ्का की दृष्टि से देखते थे। काश्यप के प्रति शृगालत्वापन्न इन्द्र की उक्ति महाभारत मे इस प्रकार है—

'अहमासं पण्डितको, हैतुको, वेदनिन्दकः,
'आन्वीक्षिकी तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्।
'हेतुवादान् प्रवदिता, वक्ता संसत्सु हेतुमत्,
'आक्रोष्टा, चाभिवक्ता च, ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान्,
'नास्तिक, सर्वशङ्की च, मूर्खः, पण्डितमानिक,
'तस्येय फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज।'[46]

लोकायत बाद मे चल कर चार्वाक का पर्याय बन गया, परन्तु मूलत. वह लौकिकविद्यात्मक शास्त्रसम्भार के रूप में उद्भावित हुआ था। वैदिक ब्राह्मणो और धर्म-दर्शनज्ञ ब्राह्मणों, क्षत्रियों और श्रमणों की समता में लोकायतिक ब्राह्मणो का भी एक वर्ग बन गया था। रामायण में राम, भरत से प्रजा का कुशल-मङ्गल पूछते हुए लोकायतिक ब्राह्मणों का भी कुशल-क्षेम पूछते हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि उसी सदर्भ मे उनके प्रति निन्दा का स्वर पीछे से मिला दिया गया है—

'कच्चिन् न लोकायतिकान् ब्राह्मणान् तात ! सेवसे ?
'अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ।'[47]

जो विद्याएँ पढ़ाई जाती थी उनकी स्थूल सूचियाँ प्राप्त होती हैं। राजन्य वर्ग के लिए आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कशास्त्र, वेदत्रयी, वार्ता अर्थात् आज के शब्दों में अर्थशास्त्र, और दण्डनीति अर्थात् राजनीति—ये चार विद्याएँ निर्धारित थी।[48] विद्याओ की दो लम्बी सूचियाँ हैं, एक चौदह की और दूसरी अठारह की। चौदह विद्याओ की गणना इस प्रकार की गयी है—

'पुराण-न्याय-मीमासा-धर्मशास्त्राङ्ग-मिश्रिताः,
'वेदा. स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।[49]

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र, छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) और चार वेद—यही चौदह विद्याएँ है। इनमे चार उपवेद जोड़ दे तो संख्या अठारह हो जाती है—

'अङ्गानि, वेदाश् चत्वारो, मीमासा, न्यायविस्तरः,
'पुराणं, धर्मशास्त्र च–विद्या ह्येताश् चतुर्दश।
'आयुर्वेदो, धनुर्वेदो, गान्धर्वश् चैव ते त्रय,
'अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु–विद्या ह्यष्टादशैवता।'[50]

उपवेद और भी हैं जिनकी गणना नही की गयी है। वे प्राय· सभी लौकिकविद्या-विषयक है। हम समझते हैं कि लोकायत-परम्परा का मूल उपवेद ही हैं। इसीलिए उसके अध्येता पहले ब्राह्मण हुए, जिनकी संज्ञा लोकायतिक ब्राह्मण पड़ी। बाद मे उन्होंने अन्यो को दीक्षा दी और लोकायत-परम्परा वर्णाश्रम-साङ्कर्य द्वारा अन्ततः चार्वाक के रूप मे परिणत हो गयी। नारद ने जिन विद्याओ का अध्ययन किया था उनकी सूची इस प्रकार है—'ऋग्वेदं भगवो ! ऽध्येमि, यजुर्वेदं ऽ, सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदाना वेदं, पित्र्य ऽ, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्यमेकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्यां ऽ, सर्प-देवजन-विद्याम्।'[51]

प्राचीन शिक्षा के विषय में एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कम से कम वेद-विद्या और धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र की शिक्षा का उद्देश्य केवल बुद्धि का संस्कार नही था, पूरे व्यक्तित्व का संस्कार था। निरुक्त मे उदाहृत संहितोपनिषद्ब्राह्मण तथा वसिष्ठ-स्मृति का वचन है :

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष् टेऽहमस्मि।
'असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्यवती यथास्याम्।'[52]

अर्थात् विद्या ब्राह्मण के पास आयी और बोली, मेरी रक्षा करो। तुम यदि मुझे हृष्टपुष्ट देखना चाहते हो तो मुझे ईर्ष्याद्वेष से आक्रान्त, बेईमान और असंयमी के पास न भेजना।

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आचार्य के आदेश पर वर्षों ब्रह्मचर्यवास करना पड़ता था, तपस्या और श्रम करना पड़ता, जैसा नचिकेता के उपाख्यान से ज्ञात होता है। वेदान्त आदि शास्त्र पढ़ने के लिए साधनाएँ निर्धारित की जाती थी। शङ्कराचार्य ने उनका समाहार साधन-चतुष्टय में किया है—षट्क-सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्धा), नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, और मुमुक्षुत्व।[53]

यह एक प्रकार की धर्मशिक्षा है, जो उच्चतर शिक्षा की अनिवार्य पूर्वपीठिका थी। आज भी धर्मशिक्षा की बात उठती है, किन्हीं विश्वविद्यालयों में इसकी व्यवस्था भी यत्किञ्चित् है, किन्तु वैसे ही जैसे शराब में गङ्गाजल। अकबर इलाहाबादी का शेर है—

नयी तालीम मे भी मज़हबी तालीम शामिल है
मगर यूँही कि जैसे आबेज़म्ज़म मैं में दाखिल है।

इसके अतिरिक्त धर्मशिक्षा का व्यावहारिक रूप तो आज सोचा भी नही जा रहा है।

किन्तु प्राचीन शिक्षा मे, इसके कारण और अन्यथा भी, अतिगोपनीयता की प्रवृत्ति बढ गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-सारा ज्ञान-विज्ञान आचार्यों अथवा उनके इने-गिने शिष्यों के साथ ही लुप्त हो गया।

वैदिक शिक्षा सदा मौखिक हुआ करती थी। लिखित-पाठक की निन्दा की गयी है—

'गीती, शीघ्री, शिरस्कम्पी, तथा लिखित-पाठकः,
'अनर्थज्ञो, ऽल्पकण्ठश् च-षडेते पाठकाधमाः।'[54]

नियम से मौखिक वेदाध्ययनाध्यापन का परिणाम यह हुआ कि वैदिक संहिताओं में पाठभेद, उच्चारणभेद, संस्करणभेद आदि अनेक भेद उत्पन्न हो गये और तीन-चार के स्थान पर ग्यारह सौ तीस-इकत्तीस, अथवा इससे भी अधिक, संहिताएँ अस्तित्व में आ गयीं। साथ ही साथ इनमें प्रायः प्रत्येक ने अपने-अपने स्वतन्त्र ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषदें, उपनिषदें, कल्प और अनुकल्प उद्भावित कर लिये। वस्तुतः इस प्रकार इतना विशाल वैदिक वाङ्मय उपस्थित हो गया, जो अध्येताओ और अध्यापकों के नियन्त्रण से बाहर हो गया, विशेषतः उन के मौखिक अध्ययनाध्यापन के आग्रह के कारण। फलतः अनेक शाखाओं को अध्येता-अध्यापयिता नहीं मिले, और अधिकतर

उनका लोप हो गया। आज हमें केवल ग्यारह पूर्ण संहिताएँ और एक अपूर्ण संहिता प्राप्त होती है। ब्राह्मण और आरण्यक उससे भी कम मिलते हैं। कल्पसूत्रों की भी यही दशा है। उपनिषदें कुल लगभग सवा दो सौ प्राप्त होती हैं, जिनमें से अधिक से अधिक बीस ही प्राचीन हैं।

वैदिक ग्रन्थ-राशि कण्ठस्थ करते-करते अध्येताओं की आयु का बड़ा भाग व्यतीत हो जाता था और प्राचीन सन्दर्भों के अनुशीलन से पता चलता है कि यह भी प्रवाद प्रचलित हो चला था कि इससे बुद्धि पर भी कुप्रभाव पड़ता है। युधिष्ठिर के प्रति भीम कह जाते हैं —

'श्रोत्रियस्येव ते राजन् ! मन्दकस्याविपश्चितः
'अनुवाक-हता बुद्धिर् नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी।'[55]

यहाँ युधिष्ठिर के प्रति खीझ के कारण भीम उनकी बुद्धि की उपमा श्रोत्रिय की मद, वेदवाक्यों से कुण्ठित बुद्धि से देते हैं। कालिदास, पुरूरवा के मुख से उर्वशी के रूप-लावण्य का बखान कराते-कराते यहाँ तक कहवा गये हैं कि ऐसा मनोहर रूप वेदाभ्यास-जड ब्रह्मा भला कैसे रच सकते हैं —

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच् चन्द्रो नु कान्तिप्रदः !
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनः ! मासो नु पुष्पाकरः !
'वेदाभ्यास-जड कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलः
'निर्मातु प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः !'[56]

कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक में भी कही गयी है:—

'प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
'देव्या विमोहितमतिर् बत ! माययाऽलम्।
'त्रय्या जडीकृतमतिर् मधुपुष्पितायां
'वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।'[57]

इन परिस्थितियों में, यदि वैदिक ज्ञान-विज्ञान के लोप की स्थिति आ पहुँची हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अध्ययनाध्यापन भी अधिकतर मौखिक ही था। तदर्थ सूत्र बने, फिर उन पर भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, टीका आदि व्याख्या-ग्रन्थों की रचना हुई। स्मरण-सौकर्य के लिए कारिकाएँ भी लिखी गयीं। लिपिबद्ध करने का चलन कम होने के कारण अनेक ग्रन्थ उनके रचयिताओं-अध्येताओं के साथ ही कालकवलित हो गये। हमें तो अब केवल बची-खुची ग्रन्थराशि उपलब्ध है।

लोकायत, लौकिक विषयों से सम्बद्ध, साहित्य की भी यही दशा है। उपवेदों का तो अब केवल नाम रह गया है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि यहाँ कभी मूलदेव अपर नाम कर्णीसुत-करण्टक रचित स्तेयशास्त्र भी हुआ करता था।[58] इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी थे। पता नहीं उनके अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था थी या नहीं।

बौद्धो के उत्कर्ष-युग में नालन्दा, विक्रमशिला, और उदन्तपुरी जैसे विश्वविद्यालयो की परम्परा का पता चलता है। नालन्दा मे प्रवेश के लिए प्रखर पाण्डित्य की शर्त थी। प्रवेशार्थी को द्वार-पण्डितों से शास्त्रार्थ करके अपनी अर्हता सिद्ध करनी पड़ती थी। वह आज की अपेक्षा अधिक सही अर्थों मे उच्च शिक्षा का केन्द्र था।

सन्दर्भ

१. शतपथ-ब्राह्मण ११.२ १.१
१क. बृहन्नारदीय-पुराण २२ ८
२. मनु-स्मृति १०.४
३. तत्रैव २.१४८
४. अथर्ववेद ११.५ ३
५. शतपथ-ब्राह्मण ३.२.१ ४०
६. भारद्वाज-गृह्यसूत्र २.१.८
७. मनु-स्मृति २.१३८-१३९
८. यजुर्वेद १.५, तु० २.२८
९. तत्रैव १९.३०
१०. बौधायन-गृह्यसूत्र २.५.८-९
११. महाभारत, अनुशासन-पर्व ६४.११
१२. तत्रैव, शान्ति-पर्व ३१८.८९
१३. अहिर्बुध्न्य-संहिता १५.२०-२१
१४. मीमांसा-सूत्र ६.१.७.२७
१५. भारद्वाज-श्रौतसूत्र ५.२.८. द्रष्टव्य Journal of Vedic Studies, सितम्बर १९३४
१६. लघुविष्णु-स्मृति ५.९
१७. वृद्धहारीत-स्मृति: ६.२३७
१८. महाभारत, शान्ति-पर्व ३२७.४९
१९. यजुर्वेद २६.२

२० स्वामी दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश. समुल्लास ३, सं. युधिष्ठिर मीमांसक, १६७२, पृ. ६७

२१ श्रीमद्भागवत १.४.२५

२२. मनुपरिशिष्ट, पृ. १४

२३. अथर्ववेद ११.५.१८

२४. सूतसंहिता, शिवमाहात्म्यखण्ड ७.२०

२५. गोभिल-गृह्यसूत्र, प्रपाठक १, खण्ड १

२६. आश्वलायन-श्रौतसूत्र १.२; गोभिल-गृह्यसूत्र १.३;२.३; पारस्कर० ६.२.१; आपस्तम्ब० १२.३.१२

२७. गोभिल-गृह्यसूत्र १.३

२८. मध्व: ब्रह्मसूत्रभाष्यम्, जगन्नाथयति-कृत भाष्यदीपिका सवलित, गोपालकृष्णाचार्य, स. (मद्रास. ग्रोव प्रेस, १६००), १.१.१, पृ. ३१

२६. हारीत-स्मृति ३१.२३

३०. शङ्कर, शारीरकभाष्य १.३.६; गौतम-धर्मसूत्र २.३.४

३१. शारीरकभाष्य १.३.३६

३२. तत्रैव ३.४.३६

३३. पाणिनि, अष्टाध्यायी ४.१.४६

३४. भट्टोजि दीक्षित, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण १५, सूत्र ४.१.४६

३५. वासुदेव दीक्षित, बालमनोरमा, तत्रैव

३६. मनु-स्मृति २.१४०

३७. तत्रैव २ १४१

३८. कालिदास, मालविकाग्निमित्र १.१७

३६. अष्टाध्यायी ४ ३.१३०, छान्दोग्योपनिषद् ४.१०.१; आदि-आदि

४०. छान्दोग्योपनिषद् २.२३.१

४१. अष्टाध्यायी ४ ३ १३०

४२. पतञ्जलि महाभाष्य, प्रदीपोद्द्योत-सहित, ४.१.६३

४३. छान्दोग्योपनिषद् ५.३ ७

४४. बृहदारण्यकोपनिषद् ६.२.८

४५. श्रीमद्भगवद्गीता ४ १-२

४६ महाभारत, शान्ति-पर्व १८०.४७-४६

४७ वाल्मीकि रामायण २ १००.३८

४८. मनु-स्मृति ७ ४३

४६. याज्ञवल्क्य-स्मृति १.३

५०. विष्णु-पुराण ३.६.२८-२६

५१. छान्दोग्योपनिषद् ७.१.२

५२. संहितोपनिषद्ब्राह्मण, राधाकमल मुकर्जी, ऐंशेट इंडियन एजुकेशन, पृ. ३७-३८, के अनुसार; निरुक्त १.२.४, वसिष्ठ-स्मृति २.१४, तु० मनु-स्मृति २,११४

५३. शारीरकभाष्य १.१.१

५४. पाणिनीय-शिक्षा ३२

५५. महाभारत, शान्ति-पर्व १०.१

५६. कालिदास, विक्रमोर्वशीय १.१०

५७. श्रीमद्भागवत ६.३.२५

५८. "करणीसुतः करण्टकः स्तेयशास्त्रप्रवर्तक."......इति बृहत्कथायां कथा निबद्धा।' भानुचन्द्रगणि, कादम्बरी-निरन्तरव्याख्या (निर्णयसागर प्रेस, १९२१), पृ. ३९

—42/59, रामरत्न वाजपेयी मार्ग
लाला उमरावसिंह पार्क
नरही, लखनऊ–226 001

रामायण पहले : महाभारत बाद में

—स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
अध्यक्ष : वैदिक संस्थान, नजीबाबाद (उ०प्र०)

सन् १९७५ ई० में एक सज्जन ने ऐसे विचार व्यक्त किये थे कि महाभारत रामायण से पहले हुआ था। उन्होंने डा० डी० पी० सरकार के इस मिथ्या वक्तव्य के खण्डन में कि "महाभारत हुआ ही नहीं" अपने वक्तव्य मे कह दिया था कि "महाभारत हुआ तो है किन्तु रामायण से पहले हुआ है।" इस प्रकार एक भ्रान्ति का निवारण करते हुए वह दूसरी भ्रान्ति का प्रसारण कर बैठे।

महाभारत में रामायण का संक्षिप्त रूप से सम्पूर्ण वर्णन है। इसे पाश्चात्य विद्वान् विण्टर्निट्ज ने भी स्वीकार किया है। उसने लिखा है कि "महाभारत का रामोपाख्यान रामायण कथा का संक्षिप्त रूप है।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विण्टर्निट्ज महोदय ने महाभारत ग्रन्थ को पढ़ा है किन्तु इन भारतीयों ने नहीं पढ़ा, जो महाभारत को रामायण से पहला बताते हैं। यदि पढ़ा होता तो यह ऐसी भ्रान्तियुक्त बात न कहते।

महाभारत तो रामायण का वर्णन करके उसके अपने से पहले होने पर अपनी मुद्रिका अङ्कित करे और कुछ लोग यह कहें कि महाभारत का युद्ध रामायणकाल से पहले हुआ था तो इसका एक परिणाम तो यह होगा कि जिन्होंने महाभारत नहीं पढ़ा, वह भ्रान्ति में पड़ेंगे और दूसरा परिणाम यह होगा कि जिन्होंने महाभारत पढ़ा है, वह ऐसा वक्तव्य देने वाले को अविद्वान् समझेंगे। महाभारत के बाद मे और रामायण के पहले होने का हम केवल एक प्रमाण महाभारतान्तर्गत गीता से प्रस्तुत करते हैं। गीता के दशम् अध्याय का श्लोक ३१ इस प्रकार है—

> पवन: पवतामस्मि राम: शस्त्रभृतामहम्।
> झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।

अर्थात् पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ। मछलियों में मकरमच्छ हूँ और स्रोतों में जाह्नवी (गङ्गा) हूँ।

यदि रामायण-काल महाभारत से बाद का होता तो योगीराज श्रीकृष्ण स्वयं को शस्त्रधारियों में राम कैसे बता सकते थे? जो उत्पन्न ही न हुआ हो, उसकी उपमा कैसे दी जा सकती है? महाभारत के अतिरिक्त एक प्रमाण महाभारत से रामायण के न केवल पहले अपितु लगभग दो करोड़ वर्ष पहले होने का हम यहाँ प्रस्तुत किये देते हैं। इससे उक्त भ्रान्ति के निराकरण मे सहायता मिलेगी तथा इतिहास मे रुचि रखने वालों को

लाभ पहुँचेगा। वायु पुराण उत्तरार्द्ध अध्याय ६ के ४८वें श्लोक में वर्णन है –

त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात् ।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमीयिवान् ॥

अर्थात् २४वें त्रेतायुग मे रावण का सामर्थ्य क्षीण हुआ और तब वह दशरथ-पुत्र राम को प्राप्त होकर बन्धु-बान्धवों सहित मारा गया।

इस श्लोक में राम का २४वें त्रेतायुग में होना बताया है। अब २८वीं चतुर्युगी का कलियुग है। इसका अर्थ है कि राम और रामायण को चार चतुर्युगी पूरी-पूरी बीत चुकी हैं। चारों युगो अर्थात् एक चतुर्युगी की आयु युगानुसार काल-गणना से ४३, ०,००० वर्ष है, इसे चार से गुणा करने पर १,७२,८०,००० वर्ष चारो चतुर्युगियो का समय होता है। यह अवधि इस २८वी चतुर्युगी के त्रेता के अन्त के साथ बीत चुकी। यदि हम यह मान लें कि रामायणकाल त्रेता के बिल्कुल अन्त का काल है, त्रेता का एक दिन भी तब शेष नहीं रहा था। तब भी द्वापर का समय ८,६४,००० वर्ष तथा कलियुग के अब तक के ५०८६ वर्ष मिलाकर रामायण-काल को बीते १,८१,४६,०८६ वर्ष हो गये। जबकि महाभारत द्वापर के अन्त में कलियुग के प्रारम्भ होने पर हुआ था। इस प्रकार रामायण का युद्ध महाभारत के १,८१,४४००० वर्ष पहले हो चुका सिद्ध होता है।

पाठको से हमारा निवेदन है कि वह इस प्रकार के कपोल-कल्पित वक्तव्यो से भ्रान्ति मे न पड़ें और जो महानुभाव भ्रान्ति में हैं, वह भी सत्य को जानने की दृष्टि से जिज्ञासु बनकर तथ्य को समझें और भ्रान्ति से निकलें। जिन लोगों को सचमुच इतिहास मे रुचि है, उनसे हम आशा करते हैं कि वह भारतीय इतिहास के विषय मे पश्चिम वालों को प्रमाण न मानें। इससे भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नही पड़ेगा। भारतीय इतिहास तो भारत के ही प्राचीन ग्रन्थो से उपलब्ध होगा।

शिक्षा एवं चरित्र-निर्माण

—प्रो० ओम्प्रकाश मिश्र

इस शिक्षा-संगोष्ठी में मैं जिस पक्ष को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता हूँ वह है चरित्र निर्माण का पक्ष। आज राष्ट्रीय-जीवन मे भ्रष्टाचार पूर्णतः व्याप्त है। सरकारी कार्यालयों मे कोई कार्य पैसा दिये बगैर नही होता। व्यापार का पर्यायवाची ही भ्रष्टाचार बन गया है। सरकारी अस्पतालो की दवायें बाजारो मे बिकती हैं। न्यायालयो मे क्या होता है, यह भुक्तभोगी ही जानता है। आये दिन दहेज न मिलने के कारण बहुओं के जलने की खबरें छपती हैं, राष्ट्रीय महत्त्व की जानकारियाँ हम ही विदेशो को बेचते हैं। मामूली बात पर साम्प्रदायिक दंगे होना, राष्ट्रीय सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना, चुनाव के समय बूथो पर कब्जा करना, आम बात हो गई है। इस सबके लिए दोषी ठहराया जाता है वर्तमान शिक्षाप्रणाली को। माता-पिता की वृत्ति यह है कि अगर लड़का कुछ बन गया तो श्रेय उनको और बिगड़ गया तो दोष शिक्षको का।

अब प्रश्न है कि इस राष्ट्रीय सकट का समाधान क्या है? क्या हम शिक्षा के माध्यम से बच्चो का चरित्रनिर्माण एव उनमे नैतिकमूल्यो की स्थापना कर सकते है? यहाँ ध्यान देने की बात है कि चरित्र या व्यक्तित्व का निर्माण समाजीकरण प्रक्रिया का परिणाम है। समाजीकरण एकात्मक प्रक्रिया नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था मे बच्चे पर जितना अधिक प्रभाव माता-पिता का पडता है, उतना शिक्षक का नही। व्यक्तित्वविकास क प्रारम्भिक सोपान मे यदि माता-पिता को बच्चा झूठ बोलते देखता है, या उन्हे रिश्वत लेते देखता है तो इसका असर उस पर अवश्य पड़ेगा। कितनी भी अच्छी शिक्षा या शिक्षक हो, ऐसे माता-पिता के ससर्ग मे रहने वाले बच्चे का स्वस्थ चरित्रनिर्माण हो ही नही सकता। इसी प्रारम्भिक अवस्था में अन्तर्जातीय एव धार्मिक पूर्वाग्रहो की नीव पडती है। यदि शिक्षक बालक को विश्वबन्धुता की शिक्षा दे और घर पर माँ उसे भगी के छू लेने पर नहाने को विवश करे या शिक्षक उसके अन्दर वर्गचेतना को मिटाना चाहे और पिता उसे इस बात पर प्रताड़ित करे कि वह अपने मे निम्न स्तर के बच्चो से खेलता है, तो शिक्षक के लाख प्रयत्न करने पर भी बालक का वांछित विकास नही होगा। समाज-मनोवैज्ञानिको एवं समाजशास्त्रियो ने अपने अनुसधानो से सिद्ध कर दिया है कि प्रारम्भिक अवस्था मे ही वर्गचेतना एवं जातीय पूर्वाग्रहो का जन्म होता है। इस दिशा मे होरोविट्ज एव होरोविट्ज (Sociometry I, 301-338) आलपोर्ट एवं क्रेमर (J Psychol, 22-9-39) फ्रेनकेल ब्रन्सविक एण्ड सेनफोर्ड (J. Psychol. 20, 271-291) तथा वर्ड आदि (J. Ab. Soc. Psychol. 47, 688-699) के शोधनिष्कर्ष महत्वपूर्ण है कि जातीय पूर्वाग्रहों, वर्गचेतना आदि के प्रमुख स्रोत माता-पिता है। लामियर ने ठीक ही कहा है कि "As the thing is bent so the tree is inclined to grow"। हमारा

सामाजिक परिवेश इतना भ्रष्ट हो चुका है कि वहाँ पर पल रहे बच्चों से नैतिकमूल्यों की अपेक्षा करना हास्यास्पद है। हमारे सामने दो ही विकल्प हैं— या तो हम सामाजिक परिवेश को बदल डालें या फिर बच्चों को उस परिवेश से निकाल लें। इस समस्या का समाधान हमारे पूर्वजों ने भी इसी प्रकार से किया था। उन्होंने एक ऐसी व्यवस्था की थी जिसके अन्तर्गत बच्चों को उनके प्रारम्भिक विकास के समय, माता, पिता तथा अन्य सामाजिक प्रदूषण से दूर कर, एक आदर्श वातावरण में रखने का प्रावधान था, जहाँ वह समाज में माने हुए सुचरित्र विद्वानो के सानिध्य में न केवल ज्ञानार्जन कर सकें वरन् अपने चरित्र का निर्माण भी कर सकें। आचार्य उसका equideal होता है और उसी के व्यक्तित्व को बच्चे अपने में समाहित करते हैं। इसी प्रणाली का नाम उन्होंने गुरुकुल आश्रम प्रणाली रखा। गुरुकुल का अर्थ यह नही है कि चोटी बढ़ा कर, खड़ाऊ पहन कर, मात्र संस्कृत या वेदों का अध्ययन करना। गुरुकुल आश्रम प्रणाली मे आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन शामिल है। इसकी विशेष बात है आचार्य के सानिध्य मे ज्ञान अर्जन के साथ समाजीकरण प्रक्रिया द्वारा उन मूल्यो का विकास जो सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन के लिये आवश्यक हैं। मैं वर्तमान गुरुकुलों की वकालत नही कर रहा। उनमे दोष हो सकते हैं। मैं केवल प्रणाली की बात कर रहा हूँ, जिसकी संरचना मनोवैज्ञानिक आधार पर की गई थी और जो मेरी समझ से आज भी वर्तमान सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत विद्यार्थियों की न कोई जाति होती है, न कोई वर्ग। उनके नामों के आगे लगे जातिसूचक शब्द जैसे शर्मा, सक्सेना आदि हटा दिये जाते हैं। सब एक साथ रहते हैं, एक साथ खाना खाते हैं। विद्वान आचार्यों के सानिध्य में उनसे एक-सा स्नेह एव शिक्षा पाते हैं।¡ इस परिभाषा के अन्तर्गत दून स्कूल भी काफी सीमा तक गुरुकुल शिक्षा प्रणाली जैसा ही है। वहाँ भी योग्य आचार्यों के सानिध्य में पूर्वनिर्धारित मूल्यों का विकास विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से बालक में किया जाता है। परन्तु दून स्कूल अत्यन्त महंगा है। वहाँ पर एक वर्गविशेष के बालक ही अध्ययन कर सकते हैं। हमे अपने समाज के हर वर्ग की पहुँच के अन्दर ऐसे Residential Schools की स्थापना करनी होगी जो गुरुकुल आश्रम प्रणाली के दर्शन पर आधारित हों।

आज जो प्रारम्भिक शिक्षा की स्थिति है वह अत्यन्त विचित्र है। गाँव के प्राइमरी स्कूलों में न कोई सुविधा है और न शिक्षक पढ़ाता है। शहरो के म्युनिस्पिल स्कूलों मे क्या होता है, वह किसी से छिपा नहीं है। अच्छी शिक्षा के नाम पर जो गली-गली नर्सरी स्कूल खुले हैं वहाँ लड़कियों को १०० रु० से ३०० रु० माहवार देकर उनसे शिक्षा दिलवाई जाती है। इनमें से भी अधिकांश लड़कियाँ अध्ययन समाप्त करने के बाद अपनी शादी होने की प्रतीक्षा कर रही होती हैं। उन्हें बच्चों का कोई अनुभव नहीं होता। वह बच्चों को प्रारम्भिक ज्ञान तो दे सकती हैं परन्तु उनसे बच्चों के चरित्रनिर्माण की आशा करना दुराशा मात्र है।

मेरा प्रस्ताव है कि प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा एवं उच्च शिक्षा का भेद-भाव समाप्त कर दिया जाय। विश्वविद्यालयों के सुचरित्र शिक्षकों को ५० वर्ष की आयु होने पर प्रारम्भिक शिक्षा का दायित्व सौंपा जाय। उनका वेतन तथा अन्य सुविधाएँ पूर्ववत् रहें। परन्तु उनके ज्ञान एवं परिपक्वता का लाभ प्राइमरी शिक्षा को मिले। ऐसे शिक्षक के Retirement की कोई आयु सीमा न हो। इससे यह भेद भी समाप्त हो जायेगा कि प्राइमरी शिक्षा को High School-बी टी सी. योग्यता का शिक्षक पढ़ाये और उच्च शिक्षा को पी-एच.डी. योग्यता रखने वाला शिक्षक। मेरा विशेष बल इस बात पर है कि प्रारम्भिक शिक्षा परिपक्व विद्वानों के हाथ में होनी चाहिए। अब एक दृष्टि इस बात पर भी डाल लें कि हमारे पूर्वजों द्वारा स्थापित इस शिक्षाप्रणाली का विघटन कैसे हुआ ? गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का मूल आधार है "आचार्य", उसका चरित्र, उसकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति। आचार्य का सामाजिक अवमूल्यन होने से यह प्रणाली ध्वस्त हो गई। द्रोणाचार्य जैसे विद्वान आचार्य की स्थिति यह हो गई कि अश्वत्थामा को दूध के स्वाद का पता नहीं था। एक बार जब उसने दूध के लिये हठ किया तो आचार्य-पत्नी ने उसे चावल पीस कर पिला दिया। ऐसी अवस्था में द्रोणाचार्य को अपनी विद्या बेचने हेतु विवश होना पड़ा। सम्भवत. भारत के प्रथम Private Tutor गुरु द्रोण थे। जब गुरु बिका तो उसके पतन की कोई सीमा नहीं थी। पक्षपात के ही कारण उन्होंने एकलव्य का अँगूठा कटवा लिया। शस्त्र प्रतियोगिता में कर्ण को भाग लेने से इसलिये मना किया क्योंकि उसका सम्बन्ध आभिजात्य वर्ग से नहीं था। ऐसे बिके हुए गुरु का अपने शिष्यों पर कोई नैतिक नियंत्रण नहीं था। वह अपने शिष्यों को न तो जुआ खेलने से रोक सके और न द्रौपदी का भरी सभा में अपमान करने से। अन्ततः इस सबकी परिणति महाभारत में हुई। क्या आज भी वैसी ही स्थिति नहीं है। आज भी हर स्तर पर शिक्षक बिकता है। यह आम शिकायत है कि प्रैक्टिकल में नम्बर उसे ही अच्छे मिलते हैं जो छात्र शिक्षक से ट्यूशन पढता है या अन्य तरीकों से उसे प्रसन्न कर लेता है। आज स्थिति बहुत खराब हो चुकी है। शिक्षक रंग-बिरंगे कपड़े पहन कर कक्षा में आता है। छात्रों से फिल्मों की बातें करता है और उन्हीं के सामने सिगरेट आदि पीता है। ऐसा शिक्षक ज्ञान तो दे सकता है, चरित्र नहीं। हमें अपना दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट बनाना होगा। यदि हमें शिक्षा से चरित्रनिर्माण की अपेक्षा है तो ऐसे शिक्षकों को शिक्षाजगत् से विदा करना ही होगा। मेरे विचार से हमें यदि विद्वान एवं चरित्रवान नागरिक बनाने हैं तो आश्रम प्रणाली को पुन: स्थापित करना होगा। यदि गुरुकुल या आश्रम प्रणाली से पुरानेपन की गन्ध आती है तो कोई और नाम रख लीजिये परन्तु प्रणाली हमें कुछ इसी प्रकार की अपनानी होगी। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में हमें जिन मूल्यों की स्थापना करनी है उसके अनु-सार गुरुकुल के वातावरण को बनाना होगा। उसके आचार्य विख्यात विद्वान ही नहीं, आदर्श चरित्र के स्वामी होंगे। उनकी विद्वता एवं स्नेह समानरूप से हर वर्ग एवं जाति के बालकों को सुलभ होगा तभी हम चरित्रनिर्माण की बात सोच सकते हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य

—डा० राकेशकुमार शर्मा
प्राध्यापक–प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारतीय शिक्षा का क्रमिक इतिहास ई० पू० २२०० वर्ष से प्रारम्भ होता है तथा इसका काल १२०० ई० तक माना जाता है। इस काल मे भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पक्ष पर वेदो, उपनिषदो, पुराणो आदि के जीवन-दर्शन की छाप पड़ी। अतः इस काल की शिक्षापद्धति पर इसी जीवन-दर्शन का प्रभाव बना रहा।

शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार कही गयी है। धातु पाठ के स्वादिगण मे शिक्ष् धातु से भाव अर्थ मे अप्रत्यक्ष से शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है यहाँ शिक्ष् धातु से जिसका अर्थ मर्षण करना (सहन करना) है। तथा स्वादिगण की शक्तिकर्मक शक् धातु से भी इच्छागर्भित (सन्नन्त) अर्थ मे शिक्षा शब्द बनाया जाता है। इस प्रकार मे शिक्षा पद मे तीन अर्थ सन्निविष्ट हैं। अभ्यासविशेष, मर्षच्छाविशेष और शक्तीच्छा विशेष—ये तीनो भाव उसके द्वारा अभिव्यक्त होते है। जो अनधिगत है, अनभ्यस्त है, उस शब्दक्रिया आदि का अभ्यास करना शिक्षा है[1]। वर्तमान शिक्षा के जिस प्रकार अर्थ निश्चित किए जाते हैं, एक व्यापक अर्थ तथा दूसरा संकुचित अर्थ है। डा० सदाशिव अलतेकर ने शिक्षा के प्राचीनकाल में दो अर्थ—व्यापक एवं संकुचित् स्वीकार किए है। व्यापक अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा में आत्मसंशोधन एवं आत्मविकास की प्रवृत्ति से है तथा संकुचित अर्थ मे शिक्षा का अभिप्राय शिक्षण अवधि मे विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है[2]।

प्राचीन भारतीय समाज मे शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमे मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक जीवन के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। समाज का विकास और पतन शिक्षा की व्यवस्था के ऊपर आधारित रहता था। ऐसी अवमानना थी कि शिक्षा की समुचित व्यवस्था पर ही सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रगति सम्भव है। शिक्षा को उसकी व्यापकता के अनुसार ही महत्त्व प्रदान किया गया था। इसलिए शिक्षा के व्यापक प्रभाव तथा महत्त्व को दृष्टि मे रखकर सम्पूर्ण जीवन को ही शिक्षाप्राप्ति के लिए निर्धारित किया गया था। किन्तु इस सामान्य विधान के साथ-साथ प्रथम आश्रम को विशेषरूप से

१- पं० आचादत्त ठाकुर, वेदो मे भारतीय संस्कृति—पृ० २८८
२– प्रो० अलतेकर—एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया—पृ० ३

शिक्षा का काल घोषित किया गया था। आश्रमव्यवस्था का सार इसी तथ्य मे निहित है कि एक आश्रम मे रह कर ही दूसरे आश्रम के उत्तरदायित्वों को पूरा करने की योग्यता प्राप्त की जा सकती है। यह क्रम केवल प्रथम और द्वितीय आश्रम तक ही नही रहता था, वरन् इसकी परिसमाप्ति तृतीय आश्रम और चतुर्थ आश्रमों के उत्तरदायित्वो की पूर्ति की योग्यता प्राप्त कर, उन उत्तरदायित्वो को पूर्ण कर 'मोक्ष' प्राप्ति मे ही थी। सम्पूर्ण जीवन शिक्षा के लिए था तथा शिक्षा सम्पूर्ण जीवन के लिए थी।

प्राचीन भारत में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का सर्वांगपूर्ण विकास करना था। यह विश्वास व्याप्त था कि मनुष्य का जीवन ज्ञान से ही धर्मप्रवण नैतिकमूल्यो से युक्त उच्च आदर्शों से सचालित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता था। अतः धार्मिकवृत्तियो का उत्थान, चरित्र का उत्थान, सामाजिक उत्तरदायित्वो के प्रति मजगता का विकास और सांस्कृतिक वृत्तियो का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य स्वीकार किए गये[1]। अथर्ववेद मे विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमे श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु, अमृत्व सन्निहित किया गया है[2]।

धार्मिकवृत्तियों का उत्थान :

प्राचीन भारतीय समाज मे व्यक्ति के जीवन मे धार्मिकवृत्तियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। ऐसी अवमानना थी कि इससे व्यक्ति का जीवन भक्ति तथा धर्म-प्रवण होता है। विद्यार्थियो के जीवन मे भक्ति, धर्म, सुदृढता और पवित्रता की भावना को शिक्षा के माध्यम से प्रत्यारोपित किया जाता था। विद्यार्थी द्वारा दैनिक क्रिया, सन्ध्योपासना, व्रतो का अनुपालन, धर्म सन्वित उत्सव आदि का अनुगमन उसकी धार्मिकवृत्तियों के उत्थान मे योग देते थे। व्रतो के पालन से सयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का भान होता है, जो कि उसके आत्मविश्वास का कारण होता है।

यथा – व्रताना पालनेनैव तद्गूढमात्मदर्शनम्
जायते यमिना नूनमात्मविश्वासकारणम्।[3]

मनु ने विद्यार्थी के इन क्रियाकलापों को धर्म का रूप देते हुए कहा—शौच, पवित्रता, आचार, स्नानक्रिया, आदि अग्निकार्य और सन्ध्योपासन ब्रह्मचारी का

१– डा० ईश्वरीप्रसाद—प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन पृ० ४६८-६९।
२– अथर्ववेद—११।३।१५
३– रश्मिमाला, १०।२

धर्म था[1]।

यथा— उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च।

इसके साथ ही साथ तैत्तिरीय उपनिषद् में विद्यार्थी को धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया है, जिससे उसका व्यवहार धर्मनिष्ठ बना रहे।

यथा— धर्मं चर,.......धर्मान्न प्रमदितव्यम्।[2]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी विद्यार्थी को गुरुकुल में रहते हुए अग्नि परिचर्या के नित्य नियम के पालन को ब्रह्मचारी के धार्मिक व्रत और अनुशासन का अंग बतलाया गया है।

यथा— उपकोशलो ह्यै कामलायन सत्यकामे जाबले ब्रह्मचर्यमुवास
तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन परिचचार।[3]

धार्मिक कृत्यों में मलग्न रहने पर आध्यात्मिकता की ओर व्यक्ति का रुझान बढ़ता था तथा वह आध्यात्मिक जगत के विषय में जानने का प्रयास करता था, एवं उसके निमित्त सात्विक जीवन की ओर अग्रसर होता था। छान्दोग्य उपनिषद् में मनुष्य के जीवन में तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन को अविगर्म माना है, चूंकि धार्मिक वृत्तियाँ इन्ही तत्वो से प्रेरित होती थी।

यथा—अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमितिता अस्य दक्षिणा.।[4]

विद्यार्थियों के लिए भी सन्ध्या वन्दन, पूजा-पाठ, स्नान आदि को धर्म में समाहित किया गया था। सत्य बोलना भी इसी श्रेणी मे रखा गया और कहा गया कि सत्य न बोलने से सभी ग्रन्थों का क्षय हो जाता है। धार्मिकवृत्तियों के उत्थान की प्राप्ति हेतु विद्यार्थी को उसके शिक्षण-काल मे निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशो का पालन करना होता था। अपनी शंका-समाधान अपने गुरु से करता था। तैत्तिरीय उपनिषद् मे एक स्थल पर एक विद्यार्थी की शका का समाधान इस प्रकार किया गया है—"यदि तुम्हे कभी अपने कर्तव्य अथवा सदाचार के विषय मे सन्देह हो तो किसी विचारशील, तपस्वी, कर्तव्य-परायण, कोमल स्वभाव वाले धर्मात्मा ब्राह्मण विद्वान की सेवा मे उपस्थित होकर अपना

१- मनुस्मृति २।६९
२- तैत्तिरीय उपनिषद्—१।११
३- छान्दोग्य उपनिषद्—४।१०
४- छान्दोग्य उपनिषद्—३।१७।४

समाधान करना चाहिए और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करना चाहिए। इसी प्रकार उस व्यक्ति के प्रति भी, जिन पर रोष अथवा आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिए।[1]

चारित्रिक उत्थान :—

चरित्र की श्रेष्ठता धार्मिक वृत्तियो की ओर प्रवृत्त होने के लिए आवश्यक है। चरित्र और आचरण का अत्यधिक महत्व था। समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान भी सच्चरित्रता और सदाचार के अभाव मे माननीय नही था और मात्र गायत्री मन्त्र को जानने वाला व्यक्ति अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय एवं पूजनीय था। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। नैतिकमूल्यों से ही ये सत्कर्म सचालित होते थे। शिक्षा अवधि मे ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगों के साथ उनके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में सहायक तत्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अत जो धर्म का वर्धक था वही पण्डित था।[2] चरित्र के उत्थान मे ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय वेद, अथवा दूसरे शब्दों मे ज्ञान को प्राप्त करना था। तप, ब्रह्मचर्य जीवन का आवश्यक अग माना गया था। शौच, पवित्रता, आचार, स्नानक्रिया, अग्निकार्य और सन्ध्योपासना विद्यार्थी के चरित्र के आधार तत्व माने गये है।

यथा—उपनीय गुरु. शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादित: ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपसनमेव च ।।[3]

प्राचीन भारत मे शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसी और पाशविक प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण रखता था तथा सत-असत् का भेद कर सकने मे समर्थ होता था। जब व्यक्ति को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एव आचरण को उत्तम बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान होता था। विद्यार्थीकाल में विद्यार्थी का जीवन सत्य, तप और नियमो मे सयोजित होता था। अथर्ववेद मे आया है कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म स्नान को धारण करता है और उसमे समस्त देवता अधिवास करते है।

यथा — ब्रह्मचारी ब्रह्मभ्राजन् बिभर्ति।
तस्मिन देवा धि विश्वे निषेदु: ।।[4]

१- तैत्तिरीय उपनिषद्—१।११
२- महाभारत—अनुशासन पर्व—१२।३२।७८
३- मनुस्मृति—२।६९
४- अथर्ववेद—११।५।२४

ब्रह्मचारी का तप और आचरण अत्यन्त शक्तिशाली माने गये हैं। यह माना जाता है कि ब्रह्मचर्य के तप से राजा, राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता था। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचितरूप से शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था।

यथा — ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छता ।[1]

चरित्र और आचरण के उत्थान में ब्रह्मचर्य का व्रत अनिवार्य था, इसलिए विद्यार्थी को ब्रह्मचर्यव्रती कहा गया है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनिवार्यरूप से आवश्यक इन्द्रियनिग्रह और व्रतपालन था विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संयुक्त हो गया था।[2]

प्रो० अलतेकर ने चारित्रिक उत्थान की प्रवृत्ति की तुलना लोक के विचार से की है, जो इस मत की पोषक है कि केवल बौद्धिक विकास इतने महत्व का नहीं है, जितना चारित्रिक उत्थान।[3] विद्यार्थियों के चारित्रिक विकास के लिए गुरु नित्य उपदेश देते थे। पाठ्यग्रन्थों में भी इस प्रकार का विषय वर्णित रहता था।

व्यक्तित्व का उत्थान—

व्यक्तित्व का विकास प्राचीन शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य रहा है। यद्यपि व्यापकरूप से यह भ्रामक धारणा है कि प्राचीन शिक्षा में भारतीयों के व्यक्तित्व के उत्थान के लिए कोई स्थान नहीं था। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। क्योंकि ५०० ई० पू० तक प्रत्येक को व्यावसायिक स्वतन्त्रता थी, उसके बाद पैत्रिक व्यवसाय को बल मिला। शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति को मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान अथवा उत्कर्ष माना जाता है। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमों और नियमों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता है। शिक्षाप्राप्ति से ही व्यक्ति में आत्म-संयम, आत्मचिन्तन, आत्म-विश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेकभावना, न्यायप्रवृत्ति और आध्यात्मिकवृत्ति का उदय होना सम्भव था। प्राचीन भारत में बालक में आत्माभिमान, आत्मविश्वास एवं आत्म-नियन्त्रण की भावना पर बल दिया जाता था। कर्मों और उत्तरदायित्वों को आत्मविश्वास से ही सही रूप से निष्पन्न किया जा सकता था। इसी विश्वास के कारण शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था, उसी समय उसका आत्मविश्वास जगाया जाता था। अग्नि से यह अर्चना की जाती थी कि वह विद्यार्थी पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति में वृद्धि करे।

१- अथर्ववेद—११।५।१७
२- गोपथ ब्राह्मण—१।१२।१७
३- प्रो० अलतेकर—पूर्वोक्त, पृ० १०

यथा—अयं ते इध्म आत्मा जात वेद: तेन वर्द्धस्व
चेद्दिट वर्द्धवा वारमान।[1]

इसी प्रकार अनेक देवताओं के पूजन के साथ उसमें यह भावना भी दृढ़ की जाती थी कि उक्त देवता उसकी रक्षा करेंगे। ब्रह्मचारी की रुग्णावस्था तथा मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करते थे।

यथा—'देव सवितरेण ते ब्रह्मचारी स मामृते'।[2]

गीता में भी आया है—आत्मसंयम से आत्मनियन्त्रण उत्पन्न होता है। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दु:खों को दूर करता है जो यथायोग्य आहार-बिहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्य रत रहने वाला होता है।

यथा—युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु,
युक्त स्वप्नातबोधस्य योगी भवति दु:खहा।[3]

इस प्रकार व्रतो का नियमित और व्यवस्थित आचरण आत्मसंयम का महत्वपूर्ण आधार था। इससे विवेकभावना और न्यायप्रवृत्ति का उदय होता था जिससे धार्मिकता और आध्यात्मिकता की भी वृद्धि होती थी। इस प्रकार हम कह सकते है कि व्यक्तित्व के उत्थान मे सभी तत्वों का सक्रिय योगदान रहा था।

सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता का विकास—

शिक्षित व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वो का निष्ठापूर्वक निष्पादन करता है तथा उनके प्रति सदैव सजग रहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् मे विद्यार्थी के समावर्तन के उपदेश मे इसका उल्लेख सुन्दर ढंग से किया गया है—'सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में प्रमाद न करना, आचार्य को दक्षिणा दे देने पर सन्तति-उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना, सत्य से न हटना, लाभ-कार्य मे प्रमाद न करना, महान बनने के सुअवसर को न छोड़ना, पठन-पाठन के कर्त्तव्य मे प्रमाद न करना, देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) में प्रमाद न करना, माता को देवी समझना, पिता को देवता समझना, आचार्य को देवता समझना, अतिथि को देवता समझना, दोषरहित कार्यों को करना'।[4]—उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में विद्यार्थी को उसके उत्तरदायित्वो को विद्यार्जन द्वारा सिखाया जाता था, जिसका निष्पादन वह

१- भास्कर गृह्यसूत्र—१।५
२- आश्वलायन गृह्यसूत्र—१।२०।६
३- श्रीमद्भागवत गीता—६।१७
४- तैत्तिरीय उपनिषद्—१।११

जीवनपर्यन्त करते हुए अपने उद्देश्यों को प्राप्त करता था। प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सभी वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विभिन्न कर्म थे जिन्हें वे पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पन्न करते थे। इन कर्मों का पालन व्यक्ति का कर्म था। इन कर्मों के साथ-साथ सभी व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति शिक्षा के कारण ही पूर्ण सजग रह पाते थे। अथवा कह सकते हैं कि शिक्षा के कारण ही सामाजिक उत्तरदायित्वों की सजगता का विकास सम्भव था।

सांस्कृतिक वृत्तियों का उत्थान—

शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति मे सांस्कृतिक वृत्तियों का भी उत्थान होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पहले से चली आ रही परम्पराएँ जीवन्त हो उठती हैं। तत्कालीन समय में शिक्षा कण्ठाग्र होती थी। इसलिए संस्कृति के मूलतत्वों को स्मरण कर संरक्षित करना तथा आगे आने वाली पीढ़ी को प्रदान करना, जिससे शिक्षा की अनवरतता चलती रहे, प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य था। सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए ऋण से मुक्ति की अनिवार्यता मानी गयी है।[1] प्रत्येक द्विज परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यकरूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्त्तव्य था। वस्तुतः ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कर व्यक्ति ऋषि ऋण से उऋण होता था। ऋणों के विधान में ऋषि ऋण को प्रमुख ऋण माना गया है। उऋण होने के लिए ऋषि यज्ञ का भी विधान किया गया है। ऋषि ऋण, देव-ऋण एवं पितृऋण इन तीनो ऋणों से मुक्त होना आवश्यक माना जाता था।

उपर्युक्त उदाहरणयुक्त विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त उदात्त और गरिमायुक्त थे तथा इसके अध्ययन से व्यक्ति की धार्मिकवृत्तियो का उत्थान, चारित्रिक उत्थान, व्यक्तित्व का उत्थान, सामाजिक उत्तरदायित्वों के निष्पादन में सजगता तथा सास्कृतिक वृत्तियो के उत्थान के रूप से सर्वांगीण विकास सम्भव था।

१- शतपथ ब्राह्मण—१।५।५

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली

—डा० प्रशान्त वेदालंकार

यह एक भ्रान्त धारणा उत्पन्न की जाती रही है कि हमारे देश में शिक्षा का कार्य ब्रिटिश सरकार के प्रयत्नों से आरम्भ हुआ था। वास्तविकता यह है कि ब्रिटिश शासन द्वारा शिक्षा के प्रयत्नों से एक ओर हमारे देश में अशिक्षा बढ़ी तथा दूसरी ओर यह शिक्षा-प्रणाली हमारे देश की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। उससे शिक्षित बेकारों की संख्या बढ़ी तथा हमारे देश के पढ़े-लिखे युवक अपने ही देश की संस्कृति और सभ्यता से विमुख हो गये। लार्ड मैकाले का प्रयास इस शिक्षापद्धति के द्वारा शरीर से भारतीय और मन से उन्हें अंग्रेज बनाना था। उसका यह प्रयत्न सफल रहा।

आज देश में फिर से एक भारतीय वातावरण के अनुरूप शिक्षाप्रणाली का अनुसन्धान हो रहा है। इसके लिए ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में प्रचलित शिक्षाप्रणाली का अवलोकन भी प्रासंगिक है।

सबके लिए अनिवार्य शिक्षा

ब्रिगेडियर जनरल अलेक्जेण्डर वाकर ने (१७८०-१८१०, ईस्ट इण्डिया कम्पनी) भारत में रह कर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि वे (हिन्दू) अपने बच्चों को उत्तम विद्यार्जन कराने के लिए धन, कुल-गौरव और जाति-अभिमान सब कुछ न्यौछावर कर सकते हैं। यह लगन सभी हिन्दुओं के हृदयों में गहराई तक बसी हुई है। उसी प्रेरणा ने उनकी शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया है जो प्रत्येक ग्राम में एक पाठशाला की व्यवस्था करती है।

भारत में शिक्षा के प्रति कितना अनुराग था, इसका प्रमाण स्वयं अंग्रेज अधिकारियों ने प्रस्तुत किया—

(क) मद्रास के कलेक्टर एल. जी. के. मरे ने रिपोर्ट दी है कि "प्रत्येक बच्चे को पाँच वर्ष की आयु में पाठशाला भेजने की प्रथा है। उसके आगे उच्च-शिक्षा प्राप्त करते जाना अधिकांशतः स्वयं उनकी मानसिक वृत्ति पर अवलंबित है। परन्तु प्रायः यह स्वीकार करना होगा कि १३ वर्ष की आयु प्राप्त करने से पहले-पहले विद्या के विविध क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियाँ पर्याप्त प्रशंसनीय होती हैं। यह स्थिति हिन्दू वर्णों की विशेषता है।"

(ख) कोयम्बटूर के कलेक्टर ने भी इन्हीं तथ्यों की पुनरावृत्ति की है—"लड़कों के विद्यारंभ की आयु कम से कम पाँच वर्ष है और प्रायः वे १३-१४ वर्ष की आयु तक विद्याध्ययन करते रहते हैं। जो धर्मशास्त्र, तर्क, मीमांसा आदि पढ़ते हैं वे १५ वर्ष की आयु से प्रारम्भ करके तब तक पढ़ते रहते हैं, जब तक वे उस विज्ञान में पूर्णतः निष्णात नहीं हो जाते, या जब तक वे किसी धंधे-व्यापार मे नहीं लग जाते।"

(ग) मुदापा के कलेक्टर जी० एम० ओगिलवी का कहना है कि छोटे-छोटे ब्राह्मण लड़के अपने जन्म-स्थान पर विद्यार्जन की सुविधा न होने के कारण दस से सौ मील दूर तक पैदल जाकर किसी अनजाने गाँव मे वर्षों-वर्षों तक रह कर विद्यार्जन करते हैं और इस लम्बे कालखण्ड में एक बार भी अपने गाँव का चक्कर नहीं लगाते।

(घ) श्री एडम ने बंगाल का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "हिन्दू-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना, संस्था के माध्यम से स्वयं कराना या उसमें सहायता करना एक पुनीत धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता है।"

(ङ) लुडलो के अनुसार "प्रत्येक हिन्दू ग्राम में, जिसने अपने स्वत्व को थोड़ा भी कायम रखा है, शिक्षा की प्रारम्भिक व्यवस्था अवश्य रहती थी। एक भी बच्चा ऐसा नहीं होता, जो लिखना, पढ़ना और हिसाब लगाना नहीं जानता हो, विशेषतः गणित में तो वे बहुत ही प्रवीण होते हैं।" उन्होंने यह भी लिखा है कि जहाँ कहीं हमने (ब्रिटिश शासन ने) ग्राम-व्यवस्था समाप्त कर दी है, जैसे बंगाल मे, वहीं पाठशाला-प्रणाली भी साथ-साथ समाप्त हो गई है।[1]

उस समय के आँकड़ो को देखकर उस समय शिक्षा के व्यापक विस्तार का वर्णन अनेक अधिकारियो ने किया है। पादरी वार्ड के अनुसार सन् १८१८ में कलकत्ता मे २८ ऐसे महाविद्यालय थे। एडम ने पता लगाया कि राजशाही जिले के थाना नैटोर मे ३८ महाविद्यालय थे जिनमें ३९७ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उनमें से २६ विद्यार्थी दूर-दूर के स्थानों से वहाँ पढ़ने आये थे। सर थामस मुनरो ने १८१० मे मद्रास प्रेसीडेन्सी के बारे में लिखा था कि उनकी जानकारी के अनुसार प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला थी। मद्रास प्रेसीडेंसी के सब जिलो की रिपोर्ट को समाहित करके सर थामस मुनरो ने मार्च १८२६ मे जो विस्तृत टिप्पणी लिखी उसमें उन्होंने बताया कि उनके शासन-क्षेत्र मे १२,४९८ पाठशालायें थी, जिनमें १,८८,६५० छात्र पढ़ रहे थे। इसके अतिरिक्त अपने घरों पर ही शिक्षा लेने वाले छात्रों की सख्या बहुत अधिक थी। अकेले मद्रास जिले में ऐसे छात्रों की संख्या स्कूलों मे जाने वाले छात्रों से पाँच गुना अधिक थी। दोनों प्रकार की सख्या को जोड़कर सर मुनरो ने निष्कर्ष निकाला कि स्कूल जाने वाली उम्र के प्रत्येक तीन लड़कों मे से कम से कम एक शिक्षा ग्रहण कर रहा था। उनके इस

१- विस्तार के लिए देखें लुडलो की "ब्रिटिश इण्डिया"

निष्कर्ष को बाद में एडम ने भी पुष्ट किया। उसी काल में बम्बई प्रेसीडेन्सी में भी उसी प्रकार की एक लाख पाठशालाएँ थीं। लिटनर की खोज भी यही कहती है कि ३० वर्ष की ब्रिटिश उपेक्षा और दमनकारी नीति के उपरान्त भी ८०,००० विद्यार्थी पंजाब की देशी पाठशालाओं और मकतबों में शिक्षा ग्रहण करते थे।

इन प्रारम्भिक पाठशालाओं और मकतबों के आगे बढ़कर उच्च शिक्षा का ताना-बाना भी देशव्यापी था। जनवरी १७९१ में कलकत्ता के मंथली रजिस्टर का बगाल के प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र नदिया (नवद्वीप) के बारे मे अभिमत था — "केवल नदिया के कालिज (महाविद्यालय) में ११०० विद्यार्थी तथा १५० अध्यापक हैं।

मद्रास प्रेसीडेन्सी मे उच्चशिक्षा के लिए ११०१ महाविद्यालयो की रिपोर्ट है जिनमें ५४३१ विद्यार्थी थे। राजमहेंद्री सबसे शिखर पर था जिसमे २७९ कालिज थे। त्रिचनापल्ली में १७३, नैलोर मे १३७, और तजौर मे १०९ कालिज चल रहे थे। सर मुनरो के अनुसार मलाबार जिले मे १०९४ हिन्दू विद्यार्थी निजी तौर पर उच्चशिक्षा प्राप्त कर रहे थे। जबकि वहाँ के राजपरिवार, जो उन दिनों आर्थिक दृष्टि से दिवालिया स्थिति मे पहुँच चुका था, द्वारा संचालित एकमात्र सार्वजनिक कालेज में केवल ७५ विद्यार्थी रह गये थे। वहाँ के कलेक्टर ने इस प्राचीन शिक्षासंस्था को पहले सन् ९९९ ई० में मुसलमानों तथा बाद में अंग्रेजो द्वारा समाप्त कर डालने का वर्णन किया है।

बम्बई प्रेसीडेन्सी की रिपोर्ट मे कहा गया है कि अहमदनगर में १६ उच्च विद्यालय थे, पूना मे २२२ शिक्षासंस्थाओं में से १६४ महाविद्यालय थे।

आज हमारे देश मे अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न सबसे पेचीदा है। स्वतन्त्रताप्राप्ति के ३९ वर्षों के बाद भी शिक्षा का ठीक विकास नहीं हो पाया। उसका मूल कारण यही है कि ब्रिटिश शासन और उसके अन्धानुकरण पर स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद भी शिक्षा के केन्द्र बड़े-बड़े शहर हो गये। गाँवों का अर्थ ही अनपढ़ जनता हो गया। यदि हमने अनिवार्य शिक्षा के लक्ष्य को पूरा करना है तो हमे फिर से शिक्षा को ब्रिटिश शासन से पहले की तरह गाँवो में ले जाना होगा।

अनिवार्य शिक्षा के प्रसंग में इस भ्रान्त धारणा का निराकरण भी अनिवार्य है कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में शिक्षा केवल ब्राह्मण-वर्ग तक सीमित थी। ब्रिगेडियर जनरल अलेक्जेंडर वाकर के अनुसार ब्रिटिश शासन से पूर्व के विवरण व आँकड़े यह सिद्ध करते हैं कि तब हमारे देश में शिक्षा सभी वर्गों व वर्गों के लिए समान रूप से अनिवार्य थी। आरंभिक स्कूलों और उच्च-विद्यालयो के कुल १,७५,०८९ छात्र-छात्राओ मे से केवल ४२,५०२(२४.२ प्रतिशत) ब्राह्मण थे और १९,६९९ (११ प्रतिशत) वैश्य, ८५,४०० (४८.८ प्रतिशत) शूद्र थे एवं २७,५१६ को अन्य जातियों के (अर्थात् शूद्रों से भी नीची जाति के) बताया है, जिनमें परिया भी (१५.७ प्रतिशत) थे। इस प्रकार तथाकथित उच्चजातियों के विद्यार्थी सिर्फ ३५ प्रतिशत के लगभग थे और शेष

६१ प्रतिशत हिन्दुओं की अन्य जातियों के प्रतिनिधि थे।

मद्रास प्रेसीडेन्सी के श्रीरंगपट्टम में कुल ७.८३ प्रतिशत, मदुरै में ८ ६७ प्रतिशत, तथा उत्तरी अरकाट मे ६.५७ प्रतिशत ही ब्राह्मण छात्र थे। उच्चशिक्षा के स्तर पर भी ब्राह्मणेतर लोग पीछे नही थे। मलाबार मे धर्मशास्त्र, न्याय, ज्योतिर्विज्ञान, आध्यात्म विद्या, नीतिशास्त्र और चिकित्साशास्त्र के १५८८ विद्वानों में से केवल ६३६ ब्राह्मण थे, २३ वैश्य, २५४ शूद्र और ६७२ 'अन्य जातियों' के थे। केवल वेद तथा धर्मशास्त्र में ब्राह्मणो को लगभग एकाधिकार था, जबकि ज्योतिर्विज्ञान और चिकित्साशास्त्र जैसे उच्च विषयों मे शूद्रो तथा अन्य जातियो का था। ज्योतिर्विज्ञान में कुल ८०६ विद्वानों में से ब्राह्मण केवल ७८ थे, वैश्य २३, शूद्र १९५ और अन्य तथाकथित निम्न जातियो के ५१० विद्वान् थे। चिकित्साशास्त्र मे ब्राह्मणों का भाग कुल १९० में से केवल ३१ था, शेष सभी शूद्र तथा अन्य जातियो के लोग थे।

बम्बई प्रान्त में देशी शिक्षा के सर्वेक्षण (१८२०-३०) के अन्तर्गत उस प्रान्त के विद्वानो में से केवल ३० प्रतिशत ब्राह्मण थे।

एडम ने बंगाल व बिहार के ५ जिलो का सर्वेक्षण करके एक विवरण तैयार किया। उसके अनुसार इनमें हिन्दू विद्यार्थियो की कुल संख्या २५,९५७ थी। इनमे से ५,७४४ ब्राह्मण थे (अर्थात् लगभग ३५ प्रतिशत)। कायस्थ १२ प्रतिशत के लगभग थे। उसकी रिपोर्ट मे ९५ जातियो के विद्यार्थियो का उल्लेख मिलता है। उसमे ६६ चाडाल है, २० मोची, ८४ डोम, १०२ कहार एव ६१५ कुर्मी हैं।

एडम ने यह भी प्रतिपादित किया है कि इन विद्यालयो में ६० चाण्डाल, ५८ डोम तथा १६ मोची थे। इन स्कूलो मे ६७४ नीची कही जाने वाली १६ जातियों के बालक विद्याध्ययन करते थे। दिलचस्प तथ्य यह है कि एडम के अनुसार इसी काल में ब्रिटिश शासन द्वारा बर्दवान मे स्थापित १३ मिशनरी स्कूलो मे १ चाण्डाल, ३ डोम तथा कुल ८६ निम्नतम जातियों के छात्र थे। एडम का स्पष्ट कहना है कि छोटी से छोटी जात में भी अपने लड़को को पढ़ाने की इच्छा माँ-बाप के हृदय में जमकर बैठी होती है।

इस प्रसंग में ब्राह्मण अध्यापकों की संख्या भी अन्य जाति के अध्यापकों से कम थी। उक्त जिलो के सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि २,२६१ अध्यापको में से ब्राह्मण कुल २०८ थे, जबकि कायस्थ १०१६ थे। ६ चाण्डाल, ५ गोल, १३ तेली, २ राजपूत, क्षत्रिय कुल ३ थे।

आज नीची-कही जाने वाली जातियों को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार दिये गये हैं, पर फिर भी वे शिक्षित नही हो पा रहे। हमे ब्रिटिश शासन और उसके प्रभाव व भारतीय विद्वानो की इस धारणा को समाप्त करना होगा कि हमारे देश में शिक्षा का अध्ययन केवल ब्राह्मणों तक था।

शिक्षक—

शिक्षक किसी भी शिक्षाप्रणाली का बहुत ही महत्वपूर्ण घटक है। शिक्षक का गहरा ज्ञान व उसका ऊँचा चरित्र ही शिक्षार्थी का आदर्श होना है। शिक्षक के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह शिक्षा को व्यावसायिक रूप से ग्रहण करें। ब्रिटिश शासन से पूर्व गाँव का अध्यापक बच्चों को लिखना-पढ़ना और काम चलाऊ हिसाब लगभग बिना किसी खर्च के पढ़ाता था। उसके लिए अध्यापनकार्य महज जीविकार्जन का साधन नहीं, एक पुनीत कर्त्तव्य था, जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी उसका परिवार निभाता आ रहा था। एडम का कहना है कि वे उस भाषा के व्याकरण की बारीकियों के अनुपम ज्ञाता थे जिसके शब्दों के अन्दर असीम ज्ञान-दर्शन भरा पड़ा है। शास्त्रार्थ मे अपराजेय थे, नीति-दर्शन, राष्ट्रीय नियमों, यमों और यमों के ज्ञान मे निष्णात होते थे, परन्तु फिर भी वे बड़े विवेकशील और विनम्र होते थे। उनमे अपने से बड़े किसी भी मान्य अथवा राज्य द्वारा नियुक्त विद्वान् के प्रति ईर्ष्या या स्पर्धा नहीं होती थी। वे आत्मप्रशंसा के स्थान पर अन्य विद्वानों की पीठ पीछे प्रशंसा करना ही शिष्टाचार मानते थे। भारत के वस्त्र-शिल्पियों की जैसी ख्याति है, वैसे ही प्रशंसा यहाँ के गुरुओं और आचार्यों के बारे मे है कि वे अपनी अस्थियों से अपने देश की कीर्ति की दीप-शिखा जलाये रखते थे।

इस प्रसंग मे यह भी उल्लेखनीय है कि शिक्षक बिना किसी दबाव के शिक्षा का कार्य सम्पन्न करता था। इस शिक्षा-प्रणाली का सामान्यरूप था-- एक अध्यापक एक स्कूल। उदाहरणार्थ तंजौर जिले के ४६३ गाँवों मे ८८४ पाठशालाएँ और ठीक उतने ही अध्यापक थे। सारी मद्रास प्रेसीडेंसी मे प्रायः यही प्रथा थी।

प्रति अध्यापक अथवा प्रति स्कूल विद्यार्थियों की संख्या भी बहुत थोड़ी रहती थी। मद्रास प्रेसीडेंसी मे कुल मिलाकर १,८५,२६८ विद्यार्थी, ११,७०५ स्कूलों में पढ़ते थे, जिसका औसत अनुपात १६ विद्यार्थी प्रति अध्यापक होता है। राजामुन्द्री के २६१ स्कूलों मे २,६५८ विद्यार्थी थे जो प्रति स्कूल ६ विद्यार्थी का मध्यमान देता है। कुड़प्पा जिले के ३६७ गाँवों मे ४९४ स्कूल थे, जिसमे ६००० विद्यार्थी (औसतन १२ विद्यार्थी प्रति स्कूल) थे। तंजौर मे औसत अधिक था—८८४ स्कूलों मे १६,६४६ विद्यार्थी अर्थात् औसत १९ विद्यार्थी प्रति स्कूल।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार गुरुकुलीय शिक्षाप्रणाली में एक उपाध्याय के अधीन जो वरिष्ठ विद्यार्थी और अधिक ज्ञान का संग्रह करते हैं, छोटी कक्षाओं के छात्रों के पढ़ाने का काम भी उन्हीं का होता है, उसी प्रकार ब्रिटिश शासन मे पूर्व-भारत मे यह प्रथा प्रचलित थी। इस प्रणाली मे विद्यार्थी चार-पाँच के समूह मे पढ़ते थे और उनका निर्देशन कोई बड़ा विद्यार्थी करता था। बेलारी के कलेक्टर ए.डी. कैम्पबेल ने इस पद्धति का जिसे मानीटर पद्धति के नाम से जाना जाता है, वर्णन

करते हुए लिखा है, "देशी स्कूलों में शिक्षा देने की यह प्रणाली अत्यन्त प्रशंसनीय है, जिसमें ऊँची कक्षा के विद्यार्थी छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं। इसमें साथ-साथ उनका स्वयं का ज्ञान भी पक्का होता जाता है। इंग्लैंड में इस पद्धति का जो अनुकरण हुआ है, वह सर्वथा योग्य है।"

१८वीं शती के अन्तिम दशक में मद्रास प्रेसीडेंसी के चेपलैन डा० एण्ड्रयू बैल ने इस पद्धति का सूक्ष्म अध्ययन करके उसे इंग्लैंड में प्रचलित किया। वहाँ वह "बैल सिस्टम" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

माध्यम—

स्वतन्त्रताप्राप्ति के ३८-३९ वर्षों के बाद भी हम शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर उलझे हुए हैं। अभी तक हमारी शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा है और हम अपनी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश शासन से पूर्व की शिक्षा के माध्यम की स्थिति अवलोकनीय है।

शिक्षा प्रत्येक भाषा में उपलब्ध थी। भाषायी संकीर्णता तथा कट्टरता बिल्कुल नहीं थी। उदाहरणार्थ, कोयबतूर जिले के तमिल-प्रधान क्षेत्र में ६११ स्कूलों में तमिल, ३८ में कन्नड़, २५ में तेलगु, १४ में हिन्दी और १० में फारसी भाषा भी पढ़ाई जाती थी।

अध्यापन-पद्धति –

इस काल में अध्यापनपद्धति बहुत सरल थी। पाठशालाओं में प्राथमिक शिक्षा की पद्धति बहुत ही सरल और कम खर्चीली थी। अक्षरज्ञान के समय विद्यार्थी किसी एक अक्षर को मुँह से पुकार कर बोलता और साथ ही अपनी उँगली से धरती पर रेत या धूल में उसे लिखता भी जाता। गलत हो जाने पर वह हाथ से उसे मिटाकर दोबारा लिखता। इसी प्रकार अगले अक्षर की बारी आती। कोई कागज नहीं, पेंन नहीं। काफी अक्षरज्ञान हो जाने पर वह लकड़ी की तख्ती पर कलम से लिखने का प्रयास करता और उससे आगे बढ़ने पर ताड़-पत्र या कदली-पत्र के प्रयोग का नम्बर आता। इस शिक्षण प्रक्रिया में लिखना तथा पढ़ना दोनों साथ-साथ हो जाते। अक्षरज्ञान के प्रथम पाठ से ही नीति और धर्म की शिक्षाओं का समावेश हो जाता। प्रत्येक अक्षर को सिखाने के लिए कोई सरल-सा पद दोहराया जाता जैसे 'क' अक्षर के लिए 'कक्का कर कर्त्ता की पूजा'। 'द' अक्षर के लिए 'दोष न दीजै काहू, दोष करम अपनेहू' जैसी कविताओं का पाठ कराया जाता। पहले गुरुजी पाठ पढ़ाते, बाद में चार-पाँच शिष्य मिलकर उसे समवेत स्वर में दोहराते।

कक्षाप्रणाली बिल्कुल नहीं थी और न कोई वार्षिक परीक्षापद्धति थी।

विद्यार्थियों का परीक्षण निरन्तर चलता रहता था और प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी आयु की परवाह न करके वही विषय और पाठ पढ़ाया जाता था जिसमें उसकी रुचि थी और जिसके वह योग्य था।

अध्ययनकाल व अवकाश —

पाठशालाओ और उच्च शिक्षाकेन्द्रों मे छात्रों की दिनचर्या काफी कठोर रहती थी। नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रातः ५.०० बजे अध्ययनकार्य प्रारम्भ हो जाता और बीच मे भोजनादि के लिए अल्प-अवकाश के अलावा सायंकाल सूर्यास्त तक चलता रहता। विद्याध्ययन जीवन का मुख्य कर्म माना जाता था, न कि गौण।

देशी शिक्षाप्रणाली मे पाठशालाओ की छुट्टी प्रत्येक मास की अमावास्या और पूर्णिमा को होती थी। इसके अतिरिक्त कुछ चुने हुए हिन्दू-पर्वों पर भी अध्यापनकार्य स्थगित रखा जाता था।

पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकें—

हमे उच्चशिक्षा की पाठशालाओं में पढाये जाने वाले विषयों का परिचय भी मिलता है। यह विषय थे वेद, साख्य आदि षड्दर्शन, न्याय, तर्क, मीमासा, काव्यशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिर्विज्ञान, ज्योतिष तथा चिकित्साशास्त्र। इरा पावबिनी-द-बारथोलोम्यू ने मलाबार की शिक्षाव्यवस्था का वर्णन करते हुए इन विषयो का भी उल्लेख किया है: चित्रागम् (चैस), झाड़ लगाना, पायत्ता (फैंसिग), नौशास्त्र (नेवीगेशन) आदि। एक और रोचक विज्ञान सिखाया जाता था—मौन। यह अन्य विषयो की शिक्षा के समान महत्वपूर्ण था।

बेलारी के कलेक्टर ने रिपोर्ट दी है कि "तीन पुस्तकें सभी पाठशालाओ मे और सभी वर्गों के विद्यार्थियो को बिना भेदभाव के पढाई जाती है—रामायण, महाभारत एवं भागवत। इस प्रकार प्रचलित धारणा के विरुद्ध सत्य यह है कि हिन्दुओं के उच्चतम नैतिक तथा धार्मिक साहित्य की शिक्षा जाति-भेद से निरपेक्ष होकर सभी को उपलब्ध थी।

राजमहेन्द्री जिले के कलेक्टर एफ. डब्ल्यू. राबर्टसन ने ६६ पाठ्यपुस्तको के नाम दिये है। इनमे रामायण, विविध शतक (जैसे कृष्ण शतकम्, सूर्यनारायण शतकम्, जानकेय शतकम्, नारायण शतकम्) और अनेक चरित (जैसे वामन चरितम्, नल चरितम् आदि) सम्मिलित थे। कुछ पाठ्यग्रंथ जैसे विश्वकर्मा पुराण आदि शिल्पीवर्ग के छात्रों के लिए निर्धारित थे।

एडम ने बगाल की प्रारंभिक पाठशालाओं की २६ पाठ्यपुस्तको तथा उच्च

विद्यालयों के १२० ग्रंथों के नाम दिये हैं। विषयानुसार उनकी संख्या इस प्रकार है—व्याकरण ग्रंथ- २०, सामान्य साहित्य-११, धर्मशास्त्र-१७, वेदान्त-४, तर्कशास्त्र-३१, ज्योतिर्विज्ञान और ज्योतिष-१६, चिकित्साशास्त्र-४, आदि-आदि।

लिटनर की रिपोर्ट से हमे यह पता लगता है कि रणजीतसिंह स्थापत्य कला और तोपें बनाना सीखने वालों को भी राजकीय छात्रवृत्तियाँ देते थे। मि० लिटनर की रिपोर्ट में पंजाब के बारे में कहा गया कि रणजीतसिंह के राज्यकाल में, यद्यपि वेदशिक्षा का प्रचलन अपेक्षाकृत कम हुआ था और अध्यापक मुख्यतः दक्षिण से आते थे, किन्तु तब भी पंजाब में सस्कृत के साथ-साथ अरबी के व्याकरण का अध्यापन सम्पूर्ण देश मे प्रसिद्ध था। यही नही पंजाबी पंडित न्याय (तर्क), मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदान्त और सांख्य (षड्दर्शन) एवं सिद्धान्त (ज्योतिर्विज्ञान) में भी निष्णात थे।"

पंजाब सम्बन्धी रिपोर्ट मे लिटनर ने सैकड़ों पाठ्यपुस्तकों का उल्लेख किया है जो पंजाब की विविध श्रेणियों मे सस्कृत, फारसी, अरबी और गुरुमुखी भाषाओं मे हिन्दू तथा मुस्लिम स्कूलों मे पढ़ाई जाती थी। उदाहरण के लिए सिख या गुरुमुखी पाठशालाओं में पढाई जाने वाली पुस्तकें दो वर्गों मे विभाजित थी—एक आरम्भिक विद्यार्थियों के लिये और दूसरी उच्चशिक्षा के लिये। पहले वर्ग मे थी—बालोपदेश, पंज ग्रंथी, जनम साखी, दशम गुरु की पंज ग्रंथी, हनुमान नाटक और ग्रंथ साहिब। दूसरे वर्ग मे आती थी—एकादश भागवत, तुलसी रामायण, विष्णु पुराण, पिंगल (१० भाग), अश्वमेध, आध्यात्म रामायण, विचारसागर, मोक्ष पंथ, सूर्य प्रकाश, गुरुविलास छठवी पातशाही, वसिष्ठ पुराण और दशम स्कध।

ये पाठ्यपुस्तके यह भी सिद्ध करती हैं कि हिन्दू-सिख सब एक थे और उनमे कोई भेद नही था। यह प्रणाली व्यावसायिक, सामाजिक तथा बौद्धिक सभी प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति करती थी। स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार पढाई का स्वरूप होता था। ये स्कूल स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। उनमें से चिकित्सक, मुनीम, व्यापारी, वकील, पुरोहित, कारीगर और किसान सभी प्रकार के लोग समाज को मिलते थे। किन्तु शिक्षा का चरित्र मुख्यतया व्यवसाय केन्द्रित नही था। उच्चशिक्षा का ध्येय आत्मज्ञान और विश्वज्ञान था।

देशी शिक्षा आर्थिक एवं सांस्कृतिक-धार्मिक दोनो प्रकार की स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। बच्चे को बारहखड़ी और पहाड़ों की शिक्षा देने के साथ-साथ देशी शिक्षाप्रणाली उसे राष्ट्रीय महाकाव्य, इतिहास, धर्म और साहित्य का भी परिचय करा देती थी।

शिक्षा का संचालन (वित्तीय व्यवस्था)

प्राचीनकाल में प्रचलित गुरुकुलीय शिक्षाप्रणाली में ब्रह्मचारी भिक्षा मांगकर लाते थे, उन्हीं से वे स्वयं तथा अपने गुरु का भरण-पोषण करते थे। यह पद्धति ब्रिटिश शासन से पूर्व तक भारत में चल रही थी। गुडापा के कलेक्टर जी. एम. ओगिलवी ने इस काल की शिक्षा के सम्बन्ध में लिखा है कि रोज प्राप्त होने वाली भिक्षा ही उनका एकमात्र सहारा होती है। यह भिक्षा उन्हें अपने गुरु से प्राप्त नहीं होती क्योंकि वह तो स्वयं ही निर्धन होता है, बल्कि ग्रामवासियों से मिलती है। वर्षानुवर्ष गाँव में प्रत्येक ब्राह्मण द्वार पर उन्हें कुछ न कुछ भिक्षा मिल जाती है और यह भिक्षा इतने हर्षपूर्वक, दिखावे की भावना के बिना, सहज ढंग से दी जाती है कि यदि उद्देश्य को ध्यान में रखें जिसके लिए भिक्षा ली या दी गयी है, तो हमारे सामने भारतीय चरित्र का बहुत महान पक्ष उभर कर आता है। हमें सचमुच इस लोकोपकारी प्रथा का ऋणी होना चाहिए क्योंकि इसके बिना उस वर्ग के लोगों में, जिनकी निर्धनता उनके विद्यार्जन की आकांक्षा के मार्ग में दुर्लंघ्य दीवार बन जाती है, शिक्षा का व्यापक प्रसार कदापि नहीं हो पाता।

बंगाल की शिक्षाप्रणाली पर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए एडम का कहना है कि अनेक अध्यापक निःशुल्क पढ़ाते और कुछ तो अपने विद्यार्थियों के आवास, भोजन, यहाँ तक कि वस्त्रादि का भी प्रबन्ध करते थे।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा के महत्त्व को अनुभव करते हुए प्रत्येक जमींदार, राजा, नवाब या महाराजा अपने-अपने प्रभावक्षेत्र में शिक्षाप्रसार के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करता था। शेष समाज भी यथाशक्ति अध्यापकों, शिक्षा-संस्थाओं एवं विद्यार्थियों के भरण-पोषण की व्यवस्था करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता था। अति साधारण गृहस्थ के द्वार पर भी वर्षानुवर्ष गुरुकुलवासी छात्रों को एक स्वागत-भरी मुस्कान के साथ भोजनसामग्री अर्थात् मधुकरी नित्यप्रति प्राप्त होती थी। धर्मपाल ने सिद्ध किया है कि कुल भूमि के ३१ प्रतिशत या कभी-कभी ५० प्रतिशत तक पुलिस, मंदिर तथा शिक्षा—इन कार्यों के लिए आरक्षित रहता था। लिटनर ने पंजाब के एक इन्सपैक्टर आफ स्कूल के विवरण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "ग्रामसभायें समाज के सभी वर्गों में शिक्षा के प्रसार को पूरी-पूरी सहायता भी करती थीं। लिटनर ने ऐसे सैकड़ों विद्वानों के नाम दिये हैं, जिन्हें ऐसी भूमि मिली थी, परन्तु जिनके वे अनुदान ब्रिटिश सरकार द्वारा बन्द कर दिये गये और फलतः उनके द्वारा चलायी जा रही संस्थाएँ एक पीढ़ी में बन्द हो गई। जहाँ कहीं हमने ग्राम-व्यवस्था समाप्त कर दी है, जैसे बंगाल में, वहीं पाठशालाप्रणाली भी साथ-साथ समाप्त हो गई हैं।" इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि पाठशालाओं में प्राथमिक शिक्षा की पद्धति बहुत ही सरल और कम खर्चीली थी। कई विदेशी प्रेक्षकों ने इन पाठशालाओं की शिक्षण-पद्धति का आँखों देखा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। गाँव के बाहर खुले आकाश के नीचे किसी बड़े वृक्ष की

छाया तले एक गुरु थोड़े से ऊँचे आसन पर बैठा होता। सामने भूमि पर बच्चे बैठते। सभी अध्यापकों तथा छात्रों का व्यवहार दान की भूमि से वहन किया जाता था और यदि कुछ कमी रहती थी तो राजकोष से उसकी पूर्ति की जाती थी।

देशी शिक्षाप्रणाली की कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें हैं—प्रायः अलग से पाठशालाओं के भवन नहीं होते थे, अध्यापक अपने घरो मे ही, अथवा किसी सेठ या किसी बिरादरी या मन्दिर द्वारा प्रदत्त भवन मे पढ़ाते थे।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के समय २० अक्तूबर, १९३१ को लन्दन की एक सभा में जब गाँधी जी ने कहा कि ब्रिटिश राज की आँधी ने इस वृक्ष को उध्वस्त कर दिया और ब्रिटेन के १०० वर्ष के शासन के बाद भारतीय पहले से अधिक संख्या मे निरक्षर हो गये हैं, तो ब्रिटेन मे सनसनी फैल गयी। सर फिलिप्स हार्टोज ने, जो कभी ढाका विश्वविद्यालय के कुलपति रहे थे और स्कूल आफ ओरियन्टल एण्ड अफरीकन स्टडीज के संस्थापकों मे से एक थे, गांधी जी के इस कथन का विरोध किया और गाँधी जी को चुनौती दी कि वे समकालीन साक्ष्यो एवं तथ्यो के आधार पर अपने कथन को सिद्ध करें।

बाद मे स्वयं ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत विवरणो से ही महात्मा गाँधी की बात सत्य सिद्ध हो गयी। कोई भी शिक्षा के इतिहास का अध्येता इस काल की शिक्षा पर किये श्री धर्मपाल के अनुसन्धानकार्य व बिब्लिया इम्पेक्स लि० दिल्ली द्वारा "दि ब्युटीफुल ट्रीम" शीर्षक से हाल ही प्रकाशित पुस्तक मे ये रिपोर्ट अविकलरूप मे देख सकते हैं।

अंग्रेज हमारे देश मे सन् १७६१ मे आए थे। देशी शिक्षाप्रणाली सन् १८५७ तक माननी चाहिए। इसके बाद यह शिक्षाप्रणाली समाप्त होने लगी। महर्षि दयानन्द ने १८६० से १८६३ तक स्वामी विरजानन्द से इसी प्रणाली से शिक्षा प्राप्त की थी। अंग्रेजो के आ जाने से यह प्रणाली समाप्त हो गयी और उन्होंने अपनी प्रणाली चलाई। आज हम जिस नई शिक्षाप्रणाली की खोज कर रहे है, वह ब्रिटिश सरकार की नकल पर बनी शिक्षाप्रणाली के सुधार अथवा कुछ परिवर्तनों मे दिखलायी नही देती। इसके लिए वस्तुतः भारत में पहले से प्रचलित शिक्षाप्रणालियो को ढूंढना होगा। उसके लिए ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ होने पर भारत मे चलने वाली शिक्षाप्रणाली का भी अध्ययन करना होगा।

युगों में नारी-शिक्षा

—डा० जबरसिंह सेंगर
रीडर, प्रा०भा० इति० विभाग,
गु०का० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

नारी, संतान की प्रथम शिक्षिका है। बालक या बालिका पैदा होने के बाद जब बोलने योग्य होता है तो माता उसे कोमल शब्दों का उच्चारण सिखाती है, जैसे पापा आदि। पाँच वर्ष की आयु तक बालक की शिक्षिका माँ ही रहती है। उसे बोलना, चलना, बैठना, अच्छी-बुरी वस्तुओं का ज्ञान आदि माता ही कराती है। पाँच वर्ष के बाद कुमार या कुमारियाँ वैदिक युग मे गुरुकुलों मे शिक्षा प्राप्त करने जाया करते थे। वहाँ उनका उपनयन संस्कार होता है। कुमारियाँ आचार्या के गर्भस्थ हो जाती हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास मे गुरुकुल शिक्षापद्धति पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उपनयन संस्कार हो जाने के बाद छात्रा को पाखण्डों, भूतप्रेत आदि के भय जो परिवारों से ही भर दिए जाते हैं, उन्हे वस्तुस्थिति से अवगत कराकर सत्य का ज्ञान कराया जाता है।

गुरुकुलों की शिक्षा, आश्रम प्रणाली पर आधारित है। अथर्ववेद ३।२८।२ मे स्पष्ट लिखा है कि इन्हे शैशवकाल से ही आचार्याकुल मे भेज देना चाहिये। ऋग्वेद १०।१०९।४ के अनुसार उपनीत स्त्रियां कठिन कार्यों को करने में समर्थ होती हैं। हारीत धर्मसूत्र मे भी ब्रह्मवादिनियों के लिये इस उपनयन संस्कार को विहित कहा गया है। इसी प्रकार से १४ वर्ष शिक्षा पूर्ण कर लेने के उपरान्त समावर्तन संस्कार को "उपस्व स्त्री" आदि विधि द्वारा उपनयन का कथन स्पष्ट होता है क्योंकि उपनयन के बाद ही समावर्तन संस्कार होता है। वैदिकयुग मे नारी-शिक्षा सर्वोपरि थी।

वैदिकोत्तरकाल में स्त्री की शिक्षा का स्वरूप बिगड़ने लगा। स्त्रियों के वैदिक यज्ञ के अधिकार भी छिन गये। स्त्रियों एवं शूद्रों की स्थिति समाज एवं शिक्षा के क्षेत्र मे दयनीय होने लगी। मात्र चन्द विदुषियों के नाम मिलते हैं। बृहस्पति उपनिषद् २।४।३ के अनुसार मैत्रेयी व कात्यायिनी के नाम विदुषियों के रूप मे मिलते हैं। अष्टाध्यायी ३।३।२१ तथा ४।१।४९ के अनुसार शिक्षिकाओं को उपाध्याया कहा गया है। बालविवाह प्रचलित होने लगे। जिससे उपनयित कन्यायें ब्रह्मवादिनी कहलाईं एवं शादी के बाद शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलायें सद्योवधू कहलाईं। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने भी स्त्रीशिक्षा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। प्राचीन इतिहास के साक्ष्यों से छठी शती ई०पू० से पूर्व स्त्री-शिक्षा के प्रमाण मिलते हैं। पर धीरे-धीरे ब्राह्मणों के सामाजिक शासन पर निरंकुशता आ जाने से उन्होंने नारी की शिक्षा को अपंग बना दिया। हमें यहाँ बालविवाह के पर्याप्त

उदाहरण मिलते हैं। संभवतः नारीशिक्षा में यह कुप्रथा भी बाधक रही है। वे अपने बाल्यकाल में माता के गृहकार्यों में हिस्सा बटाती होंगी और १०-११ वर्ष की आयु होने पर बालिका ससुराल चली जाती होगी। यज्ञ और धार्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित मन्त्र-पाठ की शिक्षा इस सूक्ष्मकाल में सम्भव नहीं थी और व्यवस्थाकारो ने स्त्री की शिक्षा-दीक्षा का अंत कर दिया। अब वे न तो उपनयन संस्कार की अधिकारिणी रहीं और न वेदाध्ययन अथवा धार्मिक कृत्यों की। मनु ने स्त्री का एकमात्र संस्कार विवाह तक सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप कन्याओं की शिक्षा मृतप्राय: हो गयी। बड़े घरानों की कन्यायें या स्त्रियाँ वेतनभोगी अंशकालीन अध्यापक की व्यवस्था से शिक्षा ग्रहण कर लेती थी—नाम रैवा, रौहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, शशिप्रभा आदि के नाम मिलते हैं।

डा० अल्तेकर ने इस युग मे स्त्रियो के स्वतः धर्म की ओर आकृष्ट होने की बात लिखी है। हिन्दू धर्म, श्रुति एव स्मृति से ओत-प्रोत नही था बल्कि उन पर पुराणो का प्रभाव अधिक था। वे अशिक्षित होते हुये धर्म पर आस्था रखती थी भले ही वे वेदान्त को न समझ सकती हो। यही दशा स्त्रियों की बौद्ध धर्म मे थी। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द के अनुरोध पर स्त्रियो को बौद्ध भिक्षु बनने की कुछ शर्तों के साथ आज्ञा दी थी।

धीरे-धीरे पाणिनिकाल के बाद नारीशिक्षा का ह्रास ही होता गया। गुप्तकाल जिसे स्वर्णयुग कहा गया है - मे नारी शिक्षा के क्षेत्र मे कुछ उदाहरण मिलते है, पर राजपूत काल में नारी का रूप दासी एवं काम-पिपासा का साधनमात्र रह गया। नारी को शिक्षा देना प्रायः बन्द हो गया। वे अब युद्धप्रणाली मे दक्षता प्राप्त करने लगी एव हार के समय जौहर का सहारा लेने लगी। मध्यकाल मे नारीशिक्षा की दयनीय स्थिति रही। बाल-विवाह, पर्दा, सती आदि का प्रचलन हुआ।

जब भी भारत मे धर्म को चोट लगी तो महान् व्यक्तियों ने उनकी रक्षा की। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, महात्मा गाँधी, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज जैसे महापुरुषो ने स्त्री-उत्थान की बात सोची। गुरुकुलों की स्थापना की गयी। डी०ए०वी० ट्रस्ट का गठन हुआ एव लाहौर से प्रारम्भ होकर हजारो शिक्षण-सस्थायें खोली गयीं जिनमे नारी को पर्याप्त शिक्षा की सुविधा मिली। आज भी यदि नारीशिक्षा की समस्या है तो वह ग्रामो मे है। ८० प्रतिशत ग्रामीण कन्यायें अशिक्षित हैं अथवा प्राइमरी तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आगे शिक्षा प्राप्त नहीं करतीं हैं। क्या पुनः वैदिकयुगीन शिक्षा का स्वरूप आ सकेगा ? क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित सत्यार्थ प्रकाश में निर्दिष्ट शिक्षापद्धति का प्रसार हो सकेगा ? यही प्रश्न आज देश के समक्ष है। चैलेन्ज आफ एजूकेशन, रिस्ट्रक्चरिंग आफ कोर्सेस आदि पर गोष्ठियाँ हो रही है—पर इन सबका निराकरण सत्यार्थ प्रकाश में मौजूद है। यदि कहीं आवश्यकता है तो डाइनेमिक चैन्जेबिल चीजें अपनाई जा सकती हैं, जो देश, काल एव स्थिति के अनुसार आवश्यक हों।

Gurukula-Education Through Gandhi's Eye

—B. C. SINHA

Gandhi may very rightly be regarded to be the prophetic voice of the 20th century His ideas permeated every aspect of national life In the field of education, he was very near to Gurukula-system.

The Gandhian concept of education aimed at the all-sided development of students, both as an individual human beings and as a member of a peaceful, progressive and just society Gandhi looked at education as the only instrument of lifting life to something better, richer and fuller The basic education according to him was the birthright of every child and no child must remain without it. In fact he wanted an educational system in which learning and working must go together Education should be life-centred instead of text-book centred.

Gurukula system of education aims at the physical, intellectual and moral development of the students. It enables the students to maintain a living contact with the teachers so that they could gain true knowledge in the proper atmosphere. Secondly, the protagonists of the system of education imparted through the Gurukula believed that all education must aim at the creation of national consciousness, and the students must take pride in their great cultural heritage and be fully conversant with their religions and philosophy. That can alone provide a firm basis for the concept of patriotism. The system of education that fails to mould students according to their own genius and produces a tendency to imitate the foreigners is not education but poison.[1] So we can clearly see that the Gandhian concept of

1. Gurukula University—An Introduction, p. 2

education is very close to the Gurukula system of education Through education Gandhi wanted full development of the child and Gurukula-system provided a very good answer for it. In fact Gurukula is far away from any type of orthodoxy in education, as people commonly believe. In the words of Indra Vidyavachaspati the illustrious son of Swami Shraddhananda, "The Gurukula can only retain its usefulness and dynamism, if it continues to grow If it becomes static, it will not only become futile but will become harmful If however, the Gurukula continues to make progress through necessary adjustment it can become one of the foremost universities in free India as great as the ancient universities of Nalanda and Taxila."[1]

Gandhi's education was typical of the period. Formerly his knowledge of Indian subjects was poor. He did not study the philosophical literature or sacred books of his religion. With this background he left for England in 1888 to study law. It was during his stay at London that he came to realise the beauty of the Bhagawad Gita He also realised that for him salvation could lie only in Hinduism.[2] He returned to India in 1891. In 1893 he was employed by an Indian firm to go to South Africa as their legal representative in a law suit. The life of the Indians in Africa was a hell Gandhi himself experienced all the insults of racial hatred. When he was on the point of leaving Africa, he learnt that white African Government was planning a bill to deprive the Indians of their franchise. So he decided to stay to organise the Indians and get them to put up a united front against the repressive laws. At Natal he developed the philosophy and technique of Satyagraha. As Romain Rolland[3] puts it, "The soul of his movement is active resistance --resistance which finds outlet, not in violence but in the active force of love.

1. Gurukula University -An Introduction,
2. R. Rolland --Mahatma Gandhi, p. 11.
3. Ibid. p. 46.

faith and sacrifice." In 1904 he founded the Phoenix settlement near Durban As an Ashram this settlement had all the qualities of the Gurukula system. This Ashram was the training centre for the future Satyagrahis. When the African Government passed the Asiatic law, Gandhi was compelled to launch his Satyagraha Movement in 1907. The movement lasted for seven years. Probably it is not known to all of us that the students of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya collected a sum of Rs fifteen hundred through their manual work and sent it to Gandhi to carry on his movement against the inhuman Acts of the White Government. Gandhi could never afford to forget this help received from Gurukula.

He returned to India in 1914, and came to Gurukula on the 6th April of 1915. His students stayed in Gurukula for about two months. When Gandhi and his students returned back to Ahmedabad, he wrote a letter to Swami Shraddhananda which was full of intense emotions for Gurukula. He writes;[1]

महात्मा जी

लड़के सब गुरुकुल से आने के बाद मैं सब व्यवस्था करने की जंजाल मे पड़ गया। इसलिये आपको मै पत्र अगाडी न लिख सका। लडको पर आपने जो प्रेम बतलाया है वह वे कभी भूल नही सकते। मेरे लडको और साथियो को आश्रय देकर मुझको आपका ऋणी बनाया है।

अहमदाबाद में हाल तो आश्रम खोल दिया है। उसकी नियमावली हिंदी में बन रही है। तैयार होने से आपका अभिप्राय के लिये भेजी जायेगी। हरिद्वार में फेर आकर आपकी साथ कुछ दिन रहने की बात मै बिलकुल भूला नही हूँ। वखत मिलने से मैं जरूर पहोचुगा।

आपका कृपाकांक्षी
मोहन दास गांधी
बन्दे मातरम्

---

1. Gurukula Museum Exhibit.
(Shraddhananda Gallery)

This letter clearly shows Gandhi's love for Gurukula-system. He paid the second visit to Gurukula Kangri on 14th March 1916 and third time he came to Gurukula in March 1927. It was an important occasion as Gurukula was celebrating its Silver-jubilee. Fifty thousand people from different parts of the country participated in this great function. Gandhi, Rajendra Prasad, Madan Mohan Malviya, Srinivas Ayangar, Dr. Munje, Sri Shanker Lal Banker, Dr. A.C. Das, Sir P.K. Ghosh and almost all the big leaders of the Arya Samaj were present on this occasion. The function was a grand success. In the afternoon of the convocation day Gandhi delivered a historic speech in the following words :[1]

"आर्य समाज की मैं टीका करता हूँ पर स्तुति भी करता हूँ। और जो हार्दिक स्तुति करता है, उसे टीका करने का अधिकार होता है। मैं मानता हूँ कि ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के बाद शिक्षितों का जन्ता के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं रहा और उस सम्बन्ध का पुनरुद्धार करने वाला आर्य समाज है।

आज जो द्रश्य यहाँ दिखाई पड़ता है वैसा द्रश्य भाग्य से ही कहीं दूसरी जगह देखने मे आते हैं। मै आपका कुछ अनुकरण करता हूँ पर मुझे बाल्टियो मे पैसे नही मिलते। मैं तो रुमालों में पैसा इकट्ठा करता हूँ। मुझे तो पैसा मिलता है, और आपको रुपये मिलते हैं। सभी के सभी पंजाबी कुछ धनिक नही हैं। आप में भी गरीब लोग तो हैं ही पर आपका दिल उदार है। मैं आर्य समाज की टीका करता हूँ, आपको झगड़ालू कहता हूँ। पर आज आपका काम करने आया हूँ। उदार पजाबियों को कहता हूँ कि जो दो पैसा दे चुके हैं, वे फिर से देवें, क्योंकि मैं यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि गुरुकुल की मारफत हिन्दुस्तान की सेवा हो रही है। मैं ऐसा नही मानता कि आपकी टीका करते हुए मैं आपका त्याग न समझता होउंगा। त्याग तो भरा हुआ है ही, पर उस त्याग से सन्तुष्ट न हो जावो। जो त्याग आगे दिखाना है, उसके मुकाबिले में यह त्याग कुछ भी नहीं है, पर आपके त्याग की स्तुति करता हूँ क्योंकि आपके बराबर दूसरे में त्याग शक्ति नहीं है। काम तो बड़ा है जो त्याग वृति से किया जाय। बाकी तो स्वच्छन्द है।

आपकी स्तुति करता हूँ तो इससे सन्तुष्ट न हो जाय। आपने दिया तो इससे यह न समझना कि पूरा दे दिया। दान का अर्थ है अधिक से अधिक दिया जाय। जिस संस्था के लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी के सर्वस्व का त्याग था, उसके लिए जितना दे सको, दो। और कुछ परिणाम न भी निकले तो भी गुरुकुल मे संस्कृत के अभ्यास को स्थान

1. Gurukula Ke Sath Varsha, pp. 119-120.

दिया है, वह क्या कुछ छोटी बात है? जब किसी पंजाबी को मैं देवनागरी पढ़ते देखता हूँ, तो अटकल करता हूँ कि वह गुरुकुल का पढ़ा होगा। दोष किस संस्था में नहीं होते? पर दोषों के होते हुए भी, गुरुकुल संस्था की सेवा बहुत बड़ी है। इस गुरुकुल की आप सेवा करो और इसे जीवन्त रखो। स्वामी श्रद्धानन्द का कहना है कि इस संस्था के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या के दो दान दिये थे। आप कहो कि उस संस्था को जीती रखने के लिए हमसे जितना हो सकेगा, हम दान करेंगे।"

Gandhi paid his last visit to Gurukula on 21th June 1947. Thus he visited Gurukula four times and expressed the following on one of these occasions.

"Gurukula Kangri is a truly national, self-governed institution"[1]

We can safely conclude that Gandhi during his life maintained a living contact with Gurukula, as he was very much impressed and influenced by the Gurukula way of life and its educational system.

—Head, A.I.H, Cul. & Arch. Dept.
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Hardwar

1. Gurukula University—An Introduction. p. 82.

Challenge of Education—A Policy Perspective

—Dr. Raj Kumar
Sr. Research Officer
Indian Council of Historical Research
G.K.V., Hardwar

This document by the Ministry of Education has finally set the ball rolling on a topic of great national importance. It is a matter of great delight that Gurukula Kangri Vishwavidyalaya is showing us active concern, so that it adds its humble contribution towards reviewing and reshaping the educational system to enable the nation to meet the challenges of the future and also improve its efficiency and quality.

It has rightly been stated that the role of education is to transform static society into one vibrant with a commitment to development and change. There has been erosion of values and the resultant pollution of public life. The education system has to inculcate a coherent and operationally viable value system, based upon rationality, and a scientific and moral approach to life.

The new educational system has to give strength, cohesion and dynamism to society and also to prepare the manpower to enable the country to participate vigorously in the technological revolution sweeping the world, necessitating new methods of production, communication and organization. It has to remove deterioration and irrelevance and undergo fundamental changes in priorities, contents, methodology of teaching and learning, systems of evaluation and management structure. It envisages all over transformation of the social, cultural, and economic

environment. The documents has pointed with unerring finger to the causes of shortnings in our education system, To examine and understand the weaknesses of the system is in itself a great achievement.

The curse of modern democratic planning is short sightedness and adhocism. National plans and policies are often formulated mainly keeping in view mundane and purely material objectives which are devoid of understanding of deeper fundamentals motivated to winning elections in the form of party manifestoes.

But today all over the world thoughtful men and women who make the public opinion of their day are concerning themselves continued until the Spanish conquest in the early sixtieth century.

The Harappan civilisation extended from Jammu in the North to the Naramada estuary in the South and from the Makran coast of Baluchistan in the West to Meerut in the North-East. The culture is highly sophisticated in the sense that it is urban in character. The cities themselves go to prove beyond doubt that the author of this civilisation had attained a very high technological skill in the civil Engineering. Many Harappan seals found in Mesopotamia seem to suggest that the Harappans have some trade relation with transport. Town planning shows that their social structure was based on certain class distinction. Do the high platform with different kind of herths and seals with animal motif in front of altars suggest that they followed to some extent fire and sacrificial cult ? Do the figuriness of high priest suggest that the priest had a dominant role in the society as the Aryans had ? But among the material remains of culture, there are some figuriness of mother goddess and of Pasupati and also some phollus-like objects which point that they were idolatary and phallic worshippers. The skeletal remains of the

Indus Valley Culture show that they were not pure in ethnic settlement, if not cosmopolitans. The scripts though not yet deciphered appear to be pictographic in nature. Their use of weights mostly in 16 and its multiples and measures for trade show their concept of mathematics.

The earliest Aryans occupied the area covered by Eastern Afghanistan, Punjab and fringes of Western Uttar Pradesh in Ganga-Yamuna doab Towards the end of the later Vedic period around 600 B.C. they pushed themselves further east to Kosala in Eastern Uttar-Pradesh and Videha in North Bihar. The area in which Aryans first settled in India is called the Land of the Seven Rivers. Our source of knowledge about the Aryans in India is their skilled men and women of high character to carry on the work in every department of national life Money given to education by the nation is not a gift but an investment. Freedom should be restored to education and culture and highest honour to learning.

Nothing denationalised a people as the imposition upon them of a foreign tongue, dominating their life and thought. We should have an ideal where by to shape an education suited to our needs and to our coming lofty position among the nations of the world.

Modern Science and English education are not sufficient substitutes for arts and culture and it would not profit India to gain the whole world and lose her soul; we must resolve to review ancient ideal of Indian education and Indian culture, to teach our children in their mother-tongue to make Indian ideal the basis of Indian civilization renouncing the hybrid and sterile ideals of anglicised Indianism.

In early times education was imparted in the Ashramas. These Ashramas were situated far away from the cities among the natural and beautiful environments. Indian

civilization is a product of the country not of the town, of the forest not of the city. It was the forest not the town which was the fountain head of all civilization. The essence of that ideal is not the forest such as but the being in close touch with nature to let her harmonies permeate the consciousness and her calm sooth the restlessness of the mind.

It must have a few representative at least, in India if she is to rise to her former level in supreme intellectual and spiritual achievement.

We must therefore try to analyse the education system through the ages in proper historical perspectives and develop a scheme of national education founded on Indian ideals and enriched not dominated by the thought and culture of the rest of the world.

आर्किड्ज—अलौकिक सुन्दरता वाले पौधे !

—डा० पुरुषोत्तम कौशिक

अथर्ववेद दुनिया का सबसे पुराना ग्रंथ है जिसमें औषधीय आर्किड ऋषभक का वर्णन मिलता है। आयुर्वेद के कुछ अन्य ग्रंथो मे कुछ और आर्किड्ज का भी उपयोग है। जितने ये उपयोगी है उतने ही सुन्दर भी हैं। तरह-तरह की उपमायें पाश्चात्य दार्शनिको ने इनकी सुन्दरता के लिये प्रयुक्त की हैं।

यो तो सभी पौधे सुन्दर होते है और सुन्दरता का कोई पैमाना भी नही है। कौन-से पौधे कितने सुन्दर होते है और कौन-से सबसे सुन्दर हैं, वास्तव मे देखने वालो की नजरों पर निर्भर करता ही है, तो भी आर्किड्ज अपनी विभिन्नता के लिए प्रसिद्ध हैं। धरती की रंग-बिरंगे फूलो से सजी हरी साड़ी की शोभा बढाने मे आर्किड्ज का अपना ही निरालापन है। स्थलीय आर्किड्ज प्राय· शीतोष्ण कटिबन्धों मे जमीन पर उगते हैं और अधिपादक अथवा एपिफिटिक आर्किड्ज उष्णकटिबन्धी प्रदेशों और उपोष्ण खडो मे पेड़ो के तने और टहनियो पर उगते हैं। इन अधिपादको की एक बडी विशेषता है अपना भोजन स्वय तैयार करना। पेड़ के तने अथवा टहनियों पर ये सीधे भी हो सकते हैं और घडी के पेन्डूलम की तरह नीचे की ओर लटकते हुए भी होते है। सैप्रोफिटिक आर्किड्ज बहुत कम हैं, उनमे हरे पत्ते नही होते और अपना भोजन मृत गले-सडे आर्गेनिक पदार्थों से प्राप्त करते हैं।

प्राचीन समय से ही आर्किड्ज विश्व के विभिन्न भागो मे जहाँ-जहाँ ये पाये जाते हैं, बड़े लोकप्रिय रहे हैं। साहित्य मे तरह-तरह की उपमायें इनकी सुन्दरता के बारे मे मिलती हैं। जैकाब ब्रेयने ने १६७८ मे बड़े ही रोचक शब्दो मे लिखा-"यदि प्रकृति ने पौधो को बनाने मे अपना खेल-तमाशा दिखाया है तो यह आर्किड्ज मे स्पष्ट नजर आता है। इन फूलों की विभिन्न आकृतियां हमें इनकी अत्याधिक प्रशंसा के लिए प्रेरित करती है। ये छोटे पक्षियों का, छिपकलियो का और कीडो का रूप धारण कर लेते हैं। देखने में ये आदमी जैसे, औरत जैसे, कभी गम्भीर ढाल वाले योद्धा जैसे और कभी-कभी एक गंवार जैसे लगते हैं और हमे हँसने के लिए बाध्य कर देते हैं। ये एक कछुवे की, उदास स्थल मेंढक की और चचल दाँत कटकटाते बन्दर की आकृतियो के प्रतीक है। उनकी अद्भुत विभिन्नताओ के कारण ये मेरे ख्याल से प्रकृति के गुप्त नकाब मे छुपे है।" एम.बी. फोस्टर तथा आर.एस. फोस्टर ने सन् १६४६ मे अपनी पुस्तक "उष्ण कटिबन्धों के आर्किड्ज" मे एक और सचित्रित उपमा दी है "नृत्य के लिए अपने साथी लो— आदमी एक गामेसा आर्किड है और महिला एक आनसिडियम आर्किड है।"

बीज से इनका उगना बहुत ही कठिन होता है क्योंकि इनके बीज बहुत छोटे होते हैं और उनके उगने के लिए विशेष परिस्थितियों और फगस की एसोसियेशन की आवश्यकता होती है। यद्यपि टिस्यू कल्चर मीडियम मे प्रयोगशाला मे बीज से भी और अन्य भागो से भी नए पौधे बनाए जा सकते हैं ! इनको वेजिटेटिव प्रोपेगेशन के लिए स्थलीय आर्किड्ज को ५० : ५० लीफमोल्ड और मिट्टी मे तथा लकड़ी के कोयले पर उगाया जाता है। इसके अलावा तापक्रम और नमी का ख्याल रखा जाता है। देश के विभिन्न भागों मे कई आर्किड-आलय है। इनमे से नेशनल आर्किडेरियम, शिलाग (मेघालय), अरुणाचल प्रदेश सरकार का टीपी आर्किड स्टेशन, मालूकपोग, आर्किड हाउस, बोटेनिकल गार्डेन्ज पंजाब विश्वविद्यालय चडीगढ़, गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार तथा दक्षिणी भारत के पौधो के लिए आर्किड हाउस, लाल बाग, बैंगलौर तथा आर्किड-आलय, भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण कैम्प्यूर व येरकाड उल्लेखनीय है।

आर्किड परिवार के लगभग ७३५ जैनरा और १७००० स्पिसिज अनुमानित हैं। एफ.आर.आई देहरादून के जे.सी. वर्मा और के.सी. साहनी के १९७६ के एक शोध-पत्र के अनुसार आर्किड्ज की १३०० स्पिसिज भारत मे मिलती है। भारत मे आर्किड्ज हिमालय की बाह्य-श्रृंखलाओं विशेषकर पूर्वी हिमालय के उष्ण कटिबन्धी और उपोष्ण वनो मे मिलते है। सिक्किम, दार्जिलिंग, मेघालय की खासी और जैनतिया पहाड़ियो में तथा अरुणाचल प्रदेश मे तो आर्किड्ज का खजाना है। अकेले मेघालय मे लगभग पौने तीन सौ स्पिसिज मिलने का अनुमान है। पंजाब विश्वविद्यालय के प्रो० पी.एन. मेहरा और डा० एस.पी विज ने १९७४ के एक लेख मे दार्जिलिंग के स्थलीय और अधिपादक आर्किड्ज की आल्टिच्यूड के अनुसार तीन श्रेणियाँ बनाई और ऐसा पाया कि १८०० मी. से ऊपर अधिपादको की फरिक्यून्सी कम हो जाती हैं। अन्तिम रेज २७०० से ३६०० मी. की ऊँचाई तक तो बहुत ही कम मिलते है। पर स्थलीय आर्किड्ज २७०० से ४२०० मी ऊँचाई तक मिलते है। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी और पश्चिमी घाटों मे भी आर्किड मिलते है।

अत्यधिक विभिन्नतायें होने के कारण आर्किडेसी परिवार के वर्गीकरण के बारे मे अनेक मतभेद है। सुविधानुसार आर्किडेसी को तीन सब-फेमिलीज—एपोस्टेशिआयडी, साइपरिपिडिआयडी, आर्किडिआइडी मे बाँटा गया है। एपोस्टेशिआयडी के अतिरिक्त आर्किडेसी के फूल प्राय: एक व्यास सम्मित (जाइगोमार्फिक) होते हैं। स्टेमन्ज के आधार पर आर्किड्ज दो प्रकार के होते हैं। एक पुकेसरी (मोनन्डरस) जिनमे एक स्टेमन होता है तथा द्विपुकेसरी (डाइएन्डरस) जिनमे दो स्टेमन होते हैं। मोनन्डरस आर्किड्ज की संख्या अधिक है।

प्रकृति ने आर्किड फूल की सरचना बडे ही अद्भुत ढंग से की है। लिलियेसी के फूलो की भाति आर्किड मे भी परिदल पुज (पेरियन्थ) दो चक्करो मे तथा दलाभ (पैटालायड) होता है। फूल के मुख्य भागो का वर्णन नीचे दिया गया है।

पश्चय पंखुड़ी बड़ी होती हैं इसे ओष्ठक अथवा लैबेलम कहते हैं। अण्डाशय के १८०° पर घूमने की वजह से पश्च पंखुड़ी यानि ओष्ठक अग्र अवस्था में आ जाता है और परागण के लिए कीड़ों के उतरने का स्थान बनने के काम आता है। ओष्ठक की आकृतियां विभिन्न प्रकार की होती हैं। असल मे आर्किड फूलो की विभिन्नतायें मुख्यत: अनेक प्रकार के ओष्ठक होने के कारण हैं। कुछ मे ओष्ठक सपुट (सैकेट), कुछ में लोब्ड, कुछ में अन्य अजीब आकृतियों का होता है। ओष्ठक की आकृतियां इतनी भुलेवा देने वाली हो सकती हैं कि जब इरिक्सन ने सन् १९५१ मे अपने प्रयोग के लिए नर वास्पस को आर्किड फूलो और उनकी मादाओं मे से चुनने का मौका दिया तो उन्होंने प्राय: आर्किड फूलो को चुना। आस्ट्रेलियन स्थलीय आर्किड और थाइनीड वास्पस के मध्य आभासी मैथुन (सूडोकापूलेशन) देखा गया है। ड्रगन आर्किड का ओष्ठक मादा थाइनीड वास्प के आम साइज का और लोब्ड होता है। इस ओष्ठक को कीड़े के हैड थोरक्स और एब्डामन से मिलते-जुलते तीन भागो मे बाँटा जा सकता है और पार्श्वों से टाँगो जैसी बनावट के भाग बाहर निकलते हैं और डब्ल्यू. पी. स्टाउटामायर के अनुसार बेचारे कीड़ों के लिए "नैतिक नीचता" का कारण बनते है। उसने ऐसा कहते हुए इवाल्यूशन की थ्योरी में विश्वास न रखने वालो पर हास्य प्रकट किया है।

अण्डाशय—

लिलियेसी के सदस्यों की भाँति आर्किडेसी मे भी ओवरी ट्राइकारपलरी होती है और वनस्पतिविज्ञान की भाषा में इनफिरियर कहलाती है पर इवोल्यूशन की दृष्टि से सुपीरियर ओवरी से आगे बढ़ी हुई है। इसमे अनेको बीजाण्ड (ओव्यूल्ज) होते हैं। बहुत-से फूलों मे बीजाण्ड निषेचन के लिये तैयार होते हैं पर अधिकतर आर्किड फूलो के अण्डाशय मे ओव्यूल्ज फूल खिलते समय नही होते और परागण के बाद बनते हैं। एक अण्डाशय में अनगिनत ओव्यूल्ज होते हैं ताकि अधिकतम बीज बन सकें। प्रकृति ने ऐसा इसलिए किया है कि उनमे से कुछ को ही उगने का अवसर मिलता है। उनके उगने के लिए विशेष परिस्थितियो का होना आवश्यक है और किसी विशेष फंगस के सहयोग की आवश्यकता होती है।

अण्डाशय, वर्तिका (स्टाइल) और वर्तिकाग्र आवारूप से कार्पल के तीन भाग है पर वे इस प्रकार से संरचित हैं कि अलग-अलग नहीं पहचाने जा सकते।

कालम अथवा स्तम्भ का बनना आर्किड फूल की विशेषता है। यह स्टेमन्ज और स्टाइल के मिलकर जुड़ने से बना हुआ होता है। कुछ परिमिटिव आर्किड्ज, जैसे साइपरिपिडियम, स्पायरन्थिस तथा न्यूविडिया आदि मे स्टेमन्ज और स्टाइल पूर्णतया जुड़े हुए नही होते।

कुछ स्पीसिज मे कालम की वेन्टर्ल साइड से एक तरफ बढ़ा हुआ भाग होता है जिसे कालम फुट कहते हैं। कालम-फुट के सिरे से ओष्ठक जुड़ा हुआ होता है।

रोस्टेलम—

वर्तिकाग्र का कुछ भाग एक स्टैराइल भाग के रूप में बना होता है। यह वह ऊतक है जो परागकोष को फंगशनल स्टीगमा से अलग करता है। यह आर्किड फूल की सर्वाधिक एडवान्सड फीचर है। रोस्टेलम एक फूल से दूसरे में पोलन ले जाने मे भाग लेता है और इस प्रकार से पर-परागण में सहायक है।

वर्तिकाग्र—

कालम पर नीचे की ओर एक चमकदार, कम गहरा गड्ढा होता है, इसे स्टीगमेटिक केवीटो भी कहते हैं। आर्किड्ज मे ट्राइकार्पलरी अवस्था स्टिगमा से जाहिर है। स्टिगमा की तीन लोब इकट्ठी होती हैं और उनको अलग-अलग से पहचानना मुश्किल है पर बहुधा स्टिगमा इनके धरातल पर हल्की लाइनो से अलगाया होता है। स्टिगमा पर एक चिपकने वाला मीठा घोल लगा होता है जो कि पोलन ग्रेन्ज के उगने मे सहायक रहता है।

पोलिनया—

कुछ आर्किड्ज में दूसरे आम पौधों की तरह पाउडर जैसे पॉलन होते है जो अलग-अलग दानो में बिखर जाते हैं पर अधिकतर आर्किड्ज है। पोलन वैक्सी मासिज मे इकट्ठे हो जाते हैं जिन्हे पोलिनिया कहते हैं। कुछ पोलिनिया पैकेट्स मे बटे होते है और सैक्टाइल कहलाते हैं। एडवान्सड आर्किड्ज में पोलिनिया सख्त और वैक्सी होते हैं। ट्राइब एपीडन्ड्री मे २,४,८ और कभी-कभी १२ पोलिनिया भी हो सकते है।

आर्थिक महत्व की दृष्टि से आर्किड बहुत लाभकारी हैं। उनके निम्न बहुत उपयोग हैं :

१- वैनिला आइसक्रीम का नाम सुनकर किस के मुँह में पानी नहीं भर जाता। इसकी महक वैनिला नाम के आर्किड के फूट केप्सूल की खुशबू के कारण आती है। कुछ आर्किड्ज के ट्यूबरर्ज मे पर्याप्त मात्रा में स्टार्च और दूसरे कार्बोहाइड्रेट होते है पर आर्थिक दृष्टि से ये बड़े मँहगे पड़ते हैं।

२- इन पौधों की सुन्दरता और मधुर खुशबू वाले फूलों के कारण ये शायद विश्व के सबसे कीमती हार्टिकलचर प्लान्ट्स हैं। खासी हिल्ज के रेअर आर्किड्ज जैसे पैफिओपैडाइलम फेरियानम, पैफिओपैडाइलम इनसिगने तथा वाडा सिरुलिया के मुँह-माँगे दाम मिलते हैं।

१८८५ में एराइडिस शरोडेरी का एक पौधा भारत से योरुप में निर्यात किया गया। पन्द्रह इंच लम्बी फूलो की स्पाइक वाले इस पौधे ने ८६ गिन्नियाँ कमाई। मिल्बिडियम इबरयियम जो ब्रह्मा से भेजा गया था, १०४ गिन्नियो मे बिका। १९०५ मे पेफियोपैडाइलम फेरियानम जो कि १८५७ मे इग्लैंड भेजा जा चुका था, के पुनः खोजने के लिए १०० पौंड का पुरस्कार रखा गया। प्रथम विश्वयुद्ध से बिल्कुल पहले ओडन्टोग्लोसम करिस्पम की वैरायटी कुकसोनिया १७२० गिन्नियों का मूल्य पा सका।

३- आर्किड दवाइयो में भी काम आते हैं। पुराने जमाने में तो इनको सुपरनैचुरल प्लान्ट्स समझा जाता था और लोग सोचते थे कि केवल इनके छूनेमात्र से ही रोग दूर हो जाता है। आधुनिक प्रयोगो के अनुसार डन्डरोबियम ओवेटम के सारे के सारे पौधे का रस पेट की सभी प्रकार की बीमारियो मे तथा बाइल को तीव्र करने मे हितकारी पाया गया। इयूलोफिया कैमपैस्टरिस (लाहौर सालिप) का आयुर्वेद मे प्रयोग होता है। हिन्दी मे इसे सालीब मिश्री कहते हैं और हृदय रोगों मे हितकारी है। बाजार मे बिकने वाली सालिप हैबिनेरिया कोमैलिनिफोलिया तथा आर्किस लैटिफोलिया से भी प्राप्त किया जाता है।

४- ट्रोपिकल फारस्ट्स मे इकोसिस्टम को बैलेन्स रखने मे आर्किड्ज का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है।

अधिकतर ट्रोपिकल आर्किड्ज अधिपादक हैं जो वनों में पुराने पेडो पर उगते हैं। प्रकृति ने आर्किड के फल मे अनेको बीज बनाये है पर उनमे से बहुत कम उगते है। निर्दयतापूर्ण ढग से वनों को साफ करने से इन सुन्दर पौधो की कुछ स्पीसिज का तो नाश खतरे में है। ऐसे सभी आर्किड्ज की सूची तैयार करना आवश्यक है। कार्माशियल आर्किड हन्टर भी इनके भारी शत्रु हैं। इनके सरक्षण के लिये वनो को कायम रखना जरूरी है और इनके बेरहमी से उखाड़े जाने को रोका जाना चाहिये।

मुख्य अन्वेषक, पर्यावरण मन्त्रालय
(भारत सरकार) — परियोजना
वनस्पति विज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार — २४९ ४०४

निकष पर

(पुस्तक समीक्षा)

पुस्तक—संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण
संस्कृत नाटकों में वनस्पतियाँ
लेखक—डॉ० कृष्णकुमार
प्रकाशक—मयंक प्रकाशन
मिश्रा गार्डन, हनुमान गढ़ी, कनखल (हरिद्वार)
पृष्ठ—४३६; मूल्य— रु० १५०.००

वनस्पतियों का मानव-जीवन के साथ अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य ही नही, अपितु सभी प्राणियो का जीवन वनस्पतियो पर ही निर्भर है। वनस्पतियाँ एक ओर जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य की अद्भुत छटा बिखेरती हैं वही दूसरी ओर हमें जीवनोपयोगी औषधियाँ भी प्रदान करती है। हम अनेक प्रकार के सुन्दर फल-फूल इन वनस्पतियो से ही प्राप्त करते हैं। वनस्पति का उपयोग भोजन के लिए भी होता है। अनेक प्रकार के श्रृंगार-प्रसाधन इन वनस्पतियो से ही बनाये जाते है। भोजन पकाने के लिए ईधन तथा भवन-निर्माण के लिए काष्ठ इन वनस्पतियो से ही मिलते हैं। इन्ही सब कारणो से मानव अनन्तकाल से वनस्पतियो के साथ एकात्मक सम्बन्ध का अनुभव करता चला आ रहा है। वनस्पतियाँ हमारे धर्म का अविभाज्य अग बन गई है। हमने उनमे अनेक देवी-देवताओ का आरोप कर लिया है। वनस्पतियो के प्रति हमारी एक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हो चुकी है।

वैदिक युग मे ही इन वनस्पतियो की उपयोगिता पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार होने लगा था। वेदो मे लगभग २०० वनस्पतियो का उल्लेख मिलता है। 'अथर्ववेद' मे अनेक वनस्पतियो के उपयोगों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। वनस्पति-विज्ञान को उस युग मे 'वृक्षायुर्वेद' नाम दिया गया था। वैदिक युग के अनन्तर वनस्पतियो की उपयोगिता, उनके वर्गीकरण, पालन तथा सिंचन आदि विषयो पर गम्भीरता से विचार किया गया था। महाभारत मे अनेक प्रकार की वनस्पतियो का वर्गीकरण मिलता है। प्राचीन चिकित्साग्रथो मे इनके वर्गीकरण तथा गुण-दोष विवेचन पर विस्तृत विचार हैं। सस्कृत-नाटको में भी वनस्पतियो का पर्याप्त विवरण मिलता है। सस्कृत-नाटको का अध्ययन वनस्पतियो के सम्बन्ध मे बहुत-सी जानकारी प्रदान करता है। इस युग के जनसामान्य का, मनीषियो का और विद्वानो का वनस्पतियो के प्रति क्या दृष्टि-कोण था और उन्होने अपने जीवन मे इनको किस सीमा तक उपयोगी बनाया था, इसका बहुत कुछ ज्ञान सस्कृत-रूपको से होता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर डा० कृष्ण कुमार जी ने यह अनुसंधान प्रस्तुत किया है। उन्होने संस्कृत-नाटको मे मिलने वाली वनस्पतियो को अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

प्रस्तुत ग्रंथ दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड सामान्य विवेचन से सम्बन्धित है, जिसमें प्राचीनयुग मे वनो और वाटिकाओं की स्थिति, उनके महत्व, विविध कार्यों के लिए उनके उपयोग, वनस्पतियो में मानवीय भावों की विविध कल्पनाएँ, मानव-सौन्दर्य से उनका सादृश्य, वनस्पतियो के प्रति जन-सामान्य का धार्मिक दृष्टिकोण तथा वनस्पतियों के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक दृष्टि का विवेचन सस्कृत नाटको के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन में बहुत गम्भीरता है और साथ ही इससे लेखक की गहन अनुसंधान-शक्ति का परिचय मिलता है। वनस्पतियो में मानवीय भावों की कौन-सी कल्पनाएँ थीं तथा वनस्पतियो का मानव-सौन्दर्य से सादृश्य किस प्रकार परिलक्षित होता था, वनस्पतियो के प्रति जन-सामान्य का धार्मिक दृष्टिकोण किस प्रकार का था तथा वनस्पतियों के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक दृष्टि से किस प्रकार विचार किया गया था, इन प्रश्नो का उत्तर लेखक ने नाटकों के सन्दर्भ से देने का सार्थक प्रयत्न किया है।

इस विवेचन के अनन्तर दूसरे खण्ड में १८२ वनस्पतियो का तुलनात्मक विवरण नाटको के सदर्भ से तथा अन्य साहित्य से दिया गया है। वनस्पतियो के विवरण का क्रम लेखक ने इस प्रकार रखा है—नाटको मे प्रयुक्त वनस्पतियो के सस्कृत नाम, "भाव प्रकाश निघण्टु" के अनुसार उसके सस्कृत पर्याय, हिन्दी, अंग्रेजी और लैटिन नाम आधुनिक वनस्पतिविज्ञान के अनुसार वनस्पति का कुल (Family), 'भाव प्रकाश निघण्टु' के अनुसार वनस्पति का वर्ग, उन नाटकों के नाम जिनमे उस वनस्पति का वर्णन आया है, वनस्पति के उत्पत्ति-स्थान, काव्यात्मक विवरण और उपयोग।

इस खण्ड के लेखन मे लेखक ने 'भाव प्रकाश निघण्टु' तथा 'वनस्पति-विज्ञान' से विशेष सहायता ली है। संभवत: इसी कारण वनस्पतियो के सम्बन्ध मे एक स्थान पर और इतनी अच्छी सामग्री सकलित करने में वह सफल हो सका है। उसके इस अद्भुत कार्य की जितनी भी प्रशसा की जाय, वह कम है।

ग्रंथ के अन्तिम भाग मे छः परिशिष्ट दिए गये हैं। प्रथम परिशिष्ट में उन नाटककारो और उनकी कृतियो का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिनका अध्ययन इस ग्रंथ में हुआ है। द्वितीय परिशिष्ट मे सहायक और सदर्भ ग्रन्थो की सूची है। तीसरे से लेकर छठवें परिशिष्ट तक वनस्पतियों के क्रमशः सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी और लैटिन नामों की वर्णक्रम के अनुसार अनुक्रमणिकाएँ दी गयी हैं।

आधुनिक भौतिकवादी मानव, वनो की अन्धाधुन्ध कटाई करके वनस्पतियो का विनाश कर रहा है। वनस्पतियों के विनाश की इस विभीषिका से आज हम सब भयभीत हैं। यही कारण है कि आज वनों के सरक्षण पर बल दिया जा रहा है, उनकी वृद्धि के लिए प्रयास किए जा रहे है। ऐसे समय मे डा० कृष्ण कुमार के इस ग्रंथ की उपयोगिता और भी बढ जाती है। इसके अध्ययन के द्वारा हम वानस्पतिक पर्यावरण से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे और इस पर्यावरण को विनष्ट होने से बचायेंगे।

आशा है यह ग्रंथ इस दिशा मे कार्य करने वालो का समुचित मार्गदर्शन करेगा। इस अच्छे कार्य के लिए डा० कृष्ण कुमार जी बधाई के पात्र हैं।

—डा० सन्तराम वैश्य
हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार